सूची

स्वामी विवेकानन्द की संक्षिप्त जीवनी	...	1
स्वामी विवेकानन्द के जीवन की प्रमुख घटनायें	...	12
भारत और उसके पुनरुत्थान के उपाय	...	54
१८९३ की विश्व-धर्म महासभा में स्वामी विवेकानन्द		68

स्वामी विवेकानन्द की संक्षिप्त जीवनी

स्वामी विवेकानन्द के पूर्वजों का आदि निवास वर्द्धमान (पश्चिम बंगाल) जिले के कालना महकमे के अन्तर्गत डेरेटोना गाँव में था। ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ में ही वे लोग गाँव छोड़कर कलकत्ता में आ बसे। पहले गढ़ गोविन्दपुर और बाद में उत्तर कलकत्ता के सिमला इलाके में। सिमला मुहल्ले के जिस घर में स्वामीजी का जन्म हुआ था, उस घर को उनके परदादा राममोहन दत्त ने बनवाया था। राममोहन के ज्येष्ठपुत्र दुर्गाप्रसाद ने बीस-बाईस वर्ष की उम्र में संसार-त्याग कर संन्यास ग्रहण किया था। उनके पुत्र विश्वनाथ दत्त उस समय छोटे थे। श्री विश्वनाथ दत्त ने बड़े होकर एटर्नी का पेशा अपनाया। उनका विवाह सिमला निवासी नन्दलाल बसु की एकमात्र कन्या भुवनेश्वरीदेवी से हुआ। नरेन्दनाथ, जो परवर्ती काल में स्वामी विवेकानन्द कहलाए, इन्हीं की छठी सन्तान थे।

श्री विश्वनाथ दत्त अत्यन्त उदार प्रकृति के मनुष्य थे। खान-पान, पोशाक तथा अदब-कायदे में वे हिन्दू-मुसलमान की मिश्रित संस्कृति के अनुरागी थे एवं कर्मक्षेत्र में अंग्रेजों का अनुसरण करते थे। अर्थोपार्जन तो प्रचुर मात्रा में करते थे, पर संचय करने के आग्रही नहीं थे। अनेकों आत्मीय जनों और दरिद्रों का प्रतिपालन करते थे। उन्हें सात भाषाओं में दक्षता प्राप्त थी। इतिहास तथा संगीत में विशेष रुचि थी। भुवनेश्वरीदेवी सभी अर्थों में उनकी सुयोग्य सहधर्मिणी थीं। उनके हर कदम पर उनका व्यक्तित्व और आभिजात्य प्रकाश पाता था। गरीब, दु:खी उनके दरवाजे से खाली हाथ नहीं लौटते थे। परिवार का हर काम स्वयं करने के उपरान्त नियमित रूप से पूजा, शास्त्राध्ययन एवं सिलाई का काम भी

करती थीं। प्रतिवेशी लोगों के सुख-दुःख की खबर लेना भी प्रतिदिन नहीं भूलती थीं। नरेन्द्रनाथ ने अपनी माता से ही प्राथमिक अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की थी।

सन् १८६३ ई. की १२ जनवरी पौष संक्रान्ति के दिन प्रातः ६ बजकर ३३ मिनट ३३ सेकण्ड पर भुवनेश्वरीदेवी की छठी सन्तान का जन्म हुआ। भुवनेश्वरीदेवी ने विश्वास किया कि यह पुत्र उन्हें काशी के वीरेश्वर शिव के अनुग्रह से प्राप्त हुआ है। इसी कारण पुत्र का नामकरण वीरेश्वर किया गया और घरेलू नाम वीरेश्वर बिले हुआ। बिले में असाधारण मेधा, तेजस्विता, साहस, स्वाधीन मनोभाव, सहृदयता, बन्धुप्रीति एवं खेलकूद के प्रति आकर्षण का स्पष्ट परिचय मिलता था और इसके साथ प्रबल आध्यात्मिक तृष्णा भी। बिले ध्यान-ध्यान खेलते समय सहज ही गम्भीर ध्यान में डूब जाता। राम-सीता और शिव की वह पूजा करता। साधु-संन्यासियों को देखते ही अनजाने आकर्षण से दौड़कर उनके पास चला जाता। सोने से पहले ज्योति-दर्शन करना उसकी एक स्वाभाविक अवस्था थी। उम्र बढ़ने के साथ-साथ नरेन्द्रनाथ स्कूल में वाद-विवाद और आलोचना सभाओं में मणि की तरह चमके। खेलकूद में सबसे आगे निकले, शास्त्रीय भजन-संगीत में प्रथम श्रेणी के गायक और नाटक में कुशल अभिनेता बने एवं विभिन्न प्रकार की पुस्तकों के अध्ययन से अल्प अवस्था में ही उनमें गहन गम्भीर चिन्तन शक्ति जागी। संन्यास के प्रति आकर्षण बढ़ता ही रहा, परन्तु जगत् के प्रति निष्ठुर नहीं हुए। उनका अत्यन्त ममताशील हृदय विपदाओं से घिर व्यक्ति की सहायता के लिए उन्हें हमेशा प्रेरित और अग्रसर करता रहता। नरेन्द्रनाथ १८७९ ई. में मेट्रोपॉलिटन स्कूल से प्रथम श्रेणी में एण्ट्रेन्स परीक्षा उत्तीर्ण होकर कलकत्ता स्थित प्रेसिडेन्सी कॉलेज में दाखिल हुए, पर मलेरिया ज्वर से आक्रान्त होने के कारण पढ़ाई में व्यवधान उत्पन्न हुआ। प्रेसिडेन्सी कॉलेज छोड़कर जनरल असेम्बली

(स्कॉटिश चर्च कॉलेज) में दाखिल हुए। उसी कॉलेज से १८८१ ई. में एफ.ए. तथा १८८३ में बी.ए. परीक्षा पास की। नरेन्द्रनाथ में विद्यानुराग प्रबल था एवं लिखने-पढ़ने की परिधि स्कूल एवं कॉलेज की परीक्षाओं से अत्यन्त विस्तृत थी। छात्रावस्था में ही उन्होंने दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर के विचारों की समालोचना कर उन्हें लिखा था। उसके उत्तर में स्पेन्सर महाशय ने नरेन्दनाथ की यथेष्ट प्रशंसा की थी और लिखा था कि वे अपनी पुस्तक के परवर्ती संस्करण में उनकी समालोचना के अनुरूप कुछ-कुछ परिवर्तन भी करेंगे।

उनके कॉलेज के अध्यापक विलियम हेस्टी उनकी प्रतिभा से मुग्ध होकर कहा करते—'नेरन्द्रनाथ सचमुच ही एक जीनियस (प्रतिभाशाली) है। मैं बहुत स्थानों में घूमा हूँ, परन्तु इसके अनुरूप बुद्धि और बहुमुखी प्रतिभा कहीं नहीं देखी, यहाँ तक कि जर्मनी के विश्वविद्यालयों में पढ़नेवाले दर्शन के छात्रों में भी नहीं।'

विलियम हेस्टी से ही नरेन्द्रनाथ ने सर्वप्रथम सुना था कि दक्षिणेश्वर में रामकृष्ण परमहंस समाधि में लीन होते हैं। इसके उपरान्त सन् १८८१ ई. के नवम्बर माह (सम्भवतः ६ नवम्बर) में कलकत्ते के सुरेन्द्रनाथ मित्र के आवास पर श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकात हुई। दूसरी बार श्रीरामकृष्ण से दक्षिणेश्वर में मिले। उस दिन नरेन्द्रनाथ ने श्रीरामकृष्ण से वही सीधा प्रश्न किया जो उन्होंने इससे पहले भी अनेकों से पूछा था, "आपने क्या ईश्वर का साक्षात्कार किया है?" उत्तर भी उतना ही सीधा मिला : "हाँ, मैं उनका दर्शन पाता हूँ। तुम्हें जैसा देखता हूँ, उससे भी स्पष्ट उन्हें देखता हूँ। तुम अगर देखना चाहते हो तो तुम्हें भी दिखा सकता हूँ।" उत्तर सुनकर नरेन्द्रनाथ अचम्भित हो गये। यह तो पहला व्यक्ति है जो बड़े सहज भाव से कहता है कि उसने ईश्वर को देखा है। सिर्फ इतना ही नहीं, वह अन्य को भी ईश्वर का साक्षात्कार करा सकता है। परन्तु नरेन्द्रनाथ ने सहज ही उनको स्वीकार

नहीं किया था। पुनः परीक्षा के उपरान्त ही जब वे उनकी पवित्रता तथा आध्यात्मिकता के विषय में निःसन्दिग्ध हुए, तभी उन्हें जीवन के पथ प्रदर्शक के रूप में ग्रहण किया। उनके परखने के इस कौशल से श्रीरामकृष्ण अत्यन्त मुग्ध हुए थे और उन्होंने जाना था कि यह मनुष्यों को दुःख से मुक्त करने के लिए पृथ्वी पर आया है और यही उनके भावों के प्रचार का माध्यम बनेगा।

नरेन्द्रनाथ ने श्रीरामकृष्ण का घनिष्ठ संसर्ग लगभग पाँच वर्ष तक पाया था। इन पाँच वर्षों में उन्हें श्रीरामकृष्ण की शिक्षा तथा अपनी योग्यता के आधार पर बहुविध आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्राप्त हुईं। किन्तु २५ फरवरी १८८४ को उनके पिता का आकस्मिक् देहान्त होने के उपरान्त उन्हें बहुत ही आर्थिक कष्ट का सामना करना पड़ा। इस कठिन परिस्थिति में भी उनके विवेक और वैराग्य में तनिक भी कमी नहीं आई। सन् १८८५ ई. में श्रीरामकृष्ण कण्ठरोग (कैंसर) से ग्रस्त हुए, चिकित्सा के लिए उन्हें पहले श्यामपुकुर और बाद में काशीपुर में एक किराये के मकान में लाया गया। इसी मकान में नरेन्द्रनाथ अपने गुरुभाइयों को लेकर श्रीरामकृष्ण की सेवा की और तीव्र आध्यात्मिक साधना में डूब गये। एक दिन उन्होंने श्रीरामकृष्ण के समक्ष इच्छा व्यक्त की कि वे शुकदेव की भाँति दिन-रात निर्विकल्प समाधि में डूबे रहना चाहते हैं। परन्तु श्रीरामकृष्ण ने धिक्कारा, "छिः नरेन, तुम सिर्फ अपनी मुक्ति की इच्छा रखते हो! तुम्हें तो विशाल वटवृक्ष की तरह होना पड़ेगा, जिसकी छाया में समस्त पृथ्वी के मनुष्य शान्ति-लाभ करेंगे।" यद्यपि उन्होंने ऐसा कहा था, परन्तु उनकी कृपा से ही काशीपुर में ही नरेन्द्रनाथ ने एक दिन आध्यात्मिक जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि निर्विकल्प समाधि प्राप्त की थी। समाधि भंग होने के उपरान्त श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा कि इस उपलब्धि की कुंजी वे अपने पास ही रखेंगे। जगत् के प्रति जब नरेन्द्रनाथ के

कर्तव्य की इति होगी, तो वे स्वयं ही इस उपलब्धि का द्वार पुनः मुक्त कर देंगे।

काशीपुर में श्रीरामकृष्ण ने एक दिन कागज पर लिखा, "नरेन्द्र शिक्षा देगा।" अर्थात् भारतवर्ष का जो शाश्वत आध्यात्मिक आदर्श अपने जीवन में उन्होंने उपस्थित किया था, जगत् में उसी का प्रसार नरेन्द्रनाथ को करना होगा। इस पर नरेन्द्रनाथ ने आपत्ति प्रकट की तो श्रीरामकृष्ण बोले, "तेरी हड्डियाँ भी यह काम करेंगी।" एक दिन श्रीरामकृष्ण ने वैष्णव धर्म की समालोचना करते समय मन्तव्य व्यक्त किया : जीव पर दया नहीं; शिव भाव से जीव की सेवा करनी चाहिए। नरेन्द्रनाथ इस पर मुग्ध होकर बोले, "आज ठाकुर के वचनों में एक अद्भुत प्रकाश अनुभव किया। अगर ईश्वर ने कभी अवसर दिया तो आज जो अद्भुत सत्य को सुना, उसे सम्पूर्ण संसार में बिखेर दूँगा।" परवर्ती काल में स्वामीजी ने मानव सेवा के माध्यम से भगवान की उपासना का जो अनुष्ठान पसारा उसकी जमीन उसी दिन तैयार हुई थी। वस्तुतः स्वामी विवेकानन्द का प्रत्येक काम ही श्रीरामकृष्ण द्वारा निर्देशित है। श्रीरामकृष्ण सूत्र हैं और स्वामीजी उनके भाष्य हैं। संन्यासी गुरुभाइयों को लेकर एक संघ की प्रतिष्ठा का निर्देश भी श्रीरामकृष्ण ही दे गये थे।

सन् १८८६ ई. की १६ अगस्त को श्रीरामकृष्ण की इहलीला को विराम मिला। इस घटना के कुछ दिन बाद ही नरेन्द्रनाथ ने अपने गुरुभाइयों के साथ वराहनगर के एक जीर्ण मकान में रामकृष्ण मठ की प्रतिष्ठा की। चरम दारिद्र्य के बीच अपने गुरुभाइयों के साथ भूखे-अधभूखे रहकर तीव्र तपस्या, भजन-कीर्तन, शास्त्रालोचना के मध्य दिन गुजारते। इसी स्थान पर सन् १८८७ ई. के जनवरी माह में नरेन्द्रनाथ और दस गुरुभाइयों ने संन्यास ग्रहण किया। नरेन्द्रनाथ ने अपना नाम स्वामी विविदिषानन्द ग्रहण किया। आत्मगोपन के लिए स्वामीजी नाना नाम ग्रहण कर लेते थे—विविदिषानन्द, सच्चिदानन्द और विवेकानन्द।

लेकिन शिकागो विश्वधर्म महासभा में स्वामी विवेकानन्द नाम से आविर्भूत हुए थे, इसी कारण इसी नाम से समस्त विश्व ने उन्हें पहचाना। संन्यास के बाद स्वामीजी एवं उनके अन्य गुरुभाई परिव्राजक के रूप में समय-समय पर निकल पड़ते। कभी-कभी अकेले और अन्य समय साथ मिलकर परिव्रजन किया करते थे। इस प्रकार पैदल चलकर स्वामीजी ने समस्त भारत का परिभ्रमण किया और इस दौरान शिक्षित-अशिक्षित, धनी-निर्धन, राजा-महाराजा, ब्राह्मण-चण्डाल, समाज के विभिन्न स्तरों के लोगों के साथ उनका परिचय हुआ। उनकी प्रतिभा, आकर्षणीय तेजोदीप्त कान्ति एवं आध्यात्मिक गम्भीरता से सभी मुग्ध हुए। ३ अगस्त, सन् १८९० ई. को जिस भ्रमण पर वे निकले, वही उनका सर्वाधिक दीर्घकालिक और स्थायी महत्त्ववाला साबित हुआ। इस भ्रमण काल में उनकी प्रतिभा से मुग्ध होकर बहुतों ने उन्हें अमेरिका में होनेवाले विश्वधर्म महासभा में भाग लेने का अनुरोध किया। प्रारम्भ में स्वामीजी ने इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया। बाद में मद्रास के लोगों की उत्कट इच्छा एवं दैव निर्देश पर (श्रीरामकृष्ण ने सूक्ष्म शरीर के माध्यम से एवं कामारपुकुर से श्रीमाँ सारदादेवी ने उन्हें अनुमति प्रदान की) उन्होंने अमेरिका जाने का निश्चय किया। स्वामीजी भारत के जनसाधारण के प्रतिनिधि होकर उनसे प्राप्त आर्थिक सहायता से अमेरिका गये। उन्होंने चाहा भी वही था। उन्होंने कहा था, "अगर यह माँ की इच्छा हो कि मुझे (अमेरिका) जाना पड़े तो मैं जनसाधारण की अर्थ-सहायता द्वारा ही जाऊँगा क्योंकि भारत के सर्वसाधारण और गरीब मनुष्यों के लिए ही मैं पाश्चात्य देश जाऊँगा।" स्वामीजी ने सन् १८९३ ई. को ३१ मई को मुम्बई से जहाज द्वारा अमेरिका के लिए प्रस्थान किया। वे २५ जुलाई को वेंकुवर पहुँचे। वहाँ से रेलगाड़ी द्वारा ३० जुलाई को सन्ध्या के समय शिकागो पहुँचे। धर्म-सभा में विलम्ब जानकर कम खर्च पर रहने के लिए स्वामीजी बोस्टन चले गये। बोस्टन

में वे विभिन्न विद्वानों तथा अध्यापकों से परिचित हुए। इनमें हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर राइट विशेष उल्लेखनीय हैं। स्वामीजी के पास कोई परिचय पत्र नहीं है जानकर राइट ने धर्म-सभा कमेटी के चेयरमैन डॉ. बैरोज़ के नाम एक पत्र लिखा : 'हमारे सभी अध्यापकों को सम्मिलित करने से जो होगा, यह संन्यासी उससे भी अधिक विद्वान है।'

११ सितम्बर को धर्म-सभा आरम्भ हुई। स्वामीजी ने अपराह्न में अपना भाषण 'अमेरिका निवासी बहनो और भाइयो' के सम्बोधन से शुरू किया ही था कि उपस्थित सात हजार श्रोताओं ने करतल ध्वनि से उनका विपुल अभिनन्दन किया। दो मिनटों के बाद तालियों की गड़गड़ाहट थमने पर स्वामीजी ने एक संक्षिप्त भाषण दिया। इसमें सभी धर्मों के प्रति उनकी आदरपूर्ण और प्रीतिपूर्ण मनोभावना का अपूर्व प्रकाश देखकर श्रोतागण मुग्ध हो गये। २७ सितम्बर तक धर्म महासभा चली। उन्हें लगभग प्रतिदिन व्याख्यान देना पड़ता। उनके उदार एवं युक्तियुक्त चिन्तन के लिए उन्हें धर्म महासभा का सबसे प्रभावशाली वक्ता मान लिया। शिकागो के राजपथों पर उनके चित्र सुशोभित हुए। सभी समाचार पत्र उनकी हार्दिक प्रशंसा से भर गये :

'धर्मसभा में विवेकानन्द निर्विरोध सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति हैं। उनका भाषण सुनने के पश्चात् यही अनुमान हुआ कि इस शिक्षित जाति के मध्य धर्म प्रचारक भेजना कितनी निर्बुद्धि का परिचायक है।' (दि हेराल्ड), 'अपनी भावराशि की चमत्कारिक अभिव्यक्ति एवं व्यक्तित्व के प्रभाव के कारण धर्म महासभा में वे अत्यन्त जनप्रिय थे। विवेकानन्द जब भी मंच के एक कोने से अन्य कोने तक चलकर जाते, तालियों की गड़गड़ाहट से उनका अभिवादन होता। परन्तु हजार-हजार मनुष्यों की इस सुस्पष्ट प्रशंसा से भी उनमें गर्व का कोई भाव परिलक्षित नहीं होता। शिशु-सुलभ सरलता से वे उसे ग्रहण करते।' (दी बोस्टन इवनिंग ट्रांस्क्रिप्ट)। 'सभा की कार्य-सूची में विवेकानन्द का वक्तव्य सबसे अन्त में रखा जाता।

इसका उद्देश्य था श्रोताओं को अन्त तक पकड़ कर रखना। किसी भी दिन जब नीरस वक्ताओं के लम्बे भाषणों से सैकड़ों लोग सभा-गृह का त्याग करते रहते, तब विराट् श्रोता मण्डली को निश्चिन्त करने हेतु सिर्फ इतनी घोषणा यथेष्ट होती कि प्रार्थना के पहले विवेकानन्द कुछ बोलेंगे। श्रोतागण उनके पन्द्रह मिनट का भाषण सुनने के लिए घण्टों बैठे रहते।' (नार्थम्पटन डेली हेराल्ड, अप्रैल १८९४)

इसके उपरान्त स्वामीजी अमेरिका के बड़े-बड़े नगरों में धर्म प्रचार करते रहे। अमेरिका के जनसाधारण, विशेषकर शिक्षित समुदाय उनके और भी अधिक अनुरागी हुए। केवल संकीर्णमना भारतीय एवं ईसाई सम्प्रदाय के कुछ मनुष्य ईर्ष्यावश उनके विरुद्ध मिथ्या प्रचार करते रहे। स्वामीजी आर्थिक रूप से विपन्न होते हुए भी अपनी चरित्र की महानता द्वारा सभी प्रतिकूल परिस्थितियों को झेल सके।

दो वर्ष बाद १८९५ के अगस्त माह में वे यूरोप गये। पेरिस एवं लन्दन के नगरों में धर्म-प्रचार अभियान के बाद दिसम्बर माह में अमेरिका लौट आये। १५ अप्रैल १८९६ को अमेरिका से विदा लेकर पुनः लन्दन आये। इंग्लैण्ड में स्वामीजी के प्रभाव के सम्बन्ध में बिपिनचन्द्र पाल ने पत्र में लिखा : 'इंग्लैण्ड के अनेक स्थानों में मैंने ऐसे बहुत मनुष्यों का सान्निध्य प्राप्त किया जो स्वामी विवेकानन्द के प्रति गम्भीर श्रद्धा और भक्ति से अभिभूत थे। यह सत्य है कि मैं उनके सम्प्रदाय से युक्त नहीं हूँ और उनसे कुछ विषयों में मतभेद भी रखता हूँ, पर मुझे स्वीकार करना ही होगा कि विवेकानन्द के प्रभाव एवं गुण से यहाँ के अधिकांश लोग आजकल विश्वास करते हैं कि प्राचीन हिन्दूशास्त्र विस्मयकारी आध्यात्मिक निधियों से परिपूर्ण हैं।

स्वामीजी लन्दन से भारत की ओर १६ दिसम्बर १८९६ को रवाना हुए और १५ जनवरी १८९७ को कोलम्बो आ पहुँचे। पाश्चात्य देशों में उनकी अभूतपूर्व सफलता ने उनके देशवासियों के मन में जो

आत्मविश्वास और आत्ममर्यादा जगायी थी, उसके प्रभाव से दीर्घ संचित हीन भावना एक पल में दूर हो सकी। भारतवासी सिर उठकर खड़े हुए और पहचाना कि विश्व की सभ्यता के भण्डार में उनका योगदान पाश्चात्य देशों से कम नहीं, वरन् अधिक ही रहा है। इस आत्मगरिमा का संचार जिसने जन-जन में किया, सारे देश को जिसने घोर निद्रा से जगाया, उसका स्वागत करने के लिए समस्त देश अधीर आग्रह से कम्पायमान था। जब स्वामीजी कोलम्बो पहुँचे, तो उनके प्रति समस्त देश की कृतज्ञता ने एक अभूतपूर्व अभिनन्दन का रूप धारण कर लिया। उसके बाद तो अभिनन्दन की बाढ़ तरंगायित होकर मद्रास से लेकर कलकत्ता की सड़कों पर बह चली। २० जनवरी को स्वामीजी कलकत्ता पहुँचे। अभिनन्दन के बाद अभिनन्दन—कलकत्ता अपने विश्वविजयी पुत्र के आगमन में मतवाला हो उठा।

पाश्चात्य देशों में अविराम भाषण तथा भ्रमण, उस पर समस्त देश का यह स्नेह का वर्षण, इन सब कारणों से स्वामीजी का स्वास्थ्य गिरता चला गया। परन्तु वे इसकी परवाह न कर श्रीरामकृष्ण उपदिष्ट पथ पर संन्यासी संघ को स्थायी भीत पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करने लगे। उन्होंने स्वामी रामकृष्णानन्द को मद्रास में एक शाखा-केन्द्र की स्थापना करने के लिए भेजा। स्वामी अखण्डानन्द ने मुर्शिदाबाद जिले के सारगाछी में आश्रम प्रतिष्ठित किया। अन्यान्य संन्यासी भाइयों को भी अलग-अलग दायित्व सौंपा गया। अमेरिका और इंग्लैण्ड का कार्यभार यथाक्रम स्वामी सारदानन्द और स्वामी अभेदानन्द के कन्धों पर पड़ा। १ मई १८९७ को स्वामीजी ने रामकृष्ण मिशन की औपचारिक रूप से स्थापना की। संघ के लिए गंगा तट पर एक स्थायी जमीन खरीदने का विचार उनके मन में विदेशों में आया था। वह स्वप्न सन् १८९८ में साकार हुआ। इसी वर्ष ९ दिसम्बर को बेलूड़ ग्राम में रामकृष्ण मठ की स्थापना हुई।

१८९९ ई. की २० जून को स्वामीजी दूसरी बार पाश्चात्य देशों की यात्रा पर निकले एवं इंग्लैण्ड में दो सप्ताह बिताने के उपरान्त अगस्त माह में अमेरिका पहुँचे। इस बार अमेरिका में वे लगभग एक वर्ष रहे और नब्बे से अधिक भाषण दिये। परन्तु इस बार उनकी यात्रा का मुख्य उद्देश्य था उन देशों में प्रतिष्ठित उनके कार्यक्रमों को देखना और उन्हें सुदृढ़ करना। पेरिस, विएना, एथेंस और मिस्र होते हुए स्वामीजी ९ दिसम्बर १९०० को बेलूड़ मठ पहुँचे। स्वदेश लौटते ही २७ दिसम्बर को स्वामीजी मायावती की ओर रवाना हुए। वहाँ से २४ जनवरी १९०१ को लौटे। ६ फरवरी को ट्रस्ट डीड की रजिस्ट्री हुई। १० फरवरी को मठ के ट्रस्टियों के अनुमोदन से स्वामी ब्रह्मानन्द रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन के अध्यक्ष तथा स्वामी सारदानन्द महासचिव नियुक्त हुए। इस प्रकार संघ के समस्त परिचालन-दायित्व से अपने को पृथक् रखकर अन्तिम दो वर्ष स्वामीजी महासमाधि के लिए प्रस्तुत होते रहे। गुरुभाइयों अथवा शिष्यों को अपनी बुद्धि के अनुसार काम करने को प्रेरित करते ताकि उनके न रहने पर संघ के परिचालन के विषय में वे स्वयं ही निर्णय लेने में समर्थ हो सकें।

स्वामीजी ने १९०२ ई. की ४ जुलाई को देहत्याग किया। सन्ध्या-बेला में मठ स्थित अपने कक्ष में वे ध्यानरत थे। रात्रि ९ बजकर १० मिनट पर वह ध्यान महासमाधि में परिणत हुआ। उस समय उनकी आयु ३९ वर्ष ५ माह २३ दिन थी। परन्तु स्थूल शरीर का नाश होने पर भी, जिस शक्ति के रूप में स्वामी विवेकानन्द उभरे थे, वह अब भी क्रियाशील है। स्वामीजी ने स्वयं कहा था, "शरीर को पुराने वस्त्र की भाँति त्यागकर इसके बाहर चला जाना ही श्रेय मानता हूँ। परन्तु मैं काम से कभी निरत नहीं होऊँगा। मैं तबतक मानव को अनुप्रेरित करता रहूँगा, जबतक प्रत्येक मनुष्य यह नहीं समझता कि वह भगवान है।" भारतवर्ष के नवजागरण के प्रत्येक क्षेत्र को स्वामीजी ने

अत्यन्त प्रभावित किया है और समस्त पृथ्वी के लिए एक पथ-निर्देश छोड़ गये हैं। अनेक मनीषियों का यह मानना है कि स्वामी विवेकानन्द ही आधुनिक भारत के स्रष्टा हैं। इस प्रसंग में चक्रवर्ती राजगोपालाचारी की उक्ति स्मरणीय है। हमारे आधुनिक इतिहास की ओर जो कोई भी दृष्टि डालेगा, उसे स्पष्ट दिखेगा—'स्वामी विवेकानन्द के हम कितने ऋणी हैं। उन्होंने भारत की महिमा की ओर देशवासियों की आँखें उन्मुख कीं। राजनीति को आध्यात्मिकता पर आधारित किया। हम धर्मान्धों को दृष्टि प्रदान की। वे ही भारतीय स्वाधीनता संग्राम के जनक हैं। हमारी राजनीतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक स्वाधीनता के जनक भी वे ही हैं।'

स्वामी विवेकानन्द के जीवन की प्रमुख घटनायें

नरेन्द्रनाथ की माता भुवनेश्वरीदेवी एक अत्यन्त विदुषी नारी थीं। उत्तरकाल में स्वामी विवेकानन्द ने अनेक बार कहा था, ''मेरे ज्ञान के विकास के लिए मैं अपनी माँ का ऋणी हूँ।'' उनकी शिक्षा देने की पद्धति भी अनोखी थी। एक घटना से यह स्पष्ट हो जाता है। कोई दोष न रहने पर भी एक दिन स्कूल में नरेन्द्र को दण्ड मिला। भूगोल की कक्षा में नरेन्द्रनाथ ने सही जवाब दिया था, परन्तु शिक्षक को लगा कि उनका उत्तर गलत है। नरेन्द्र ने बार-बार प्रतिवाद किया, ''मुझसे भूल नहीं हुई, मैंने ठीक ही उत्तर दिया है।'' परन्तु इससे शिक्षक की क्रोधाग्नि और भी भड़क उठी, वे निर्दयता के साथ नरेन्द्र को छड़ी से पीटने लगे। घर लौटकर नरेन्द्रनाथ ने रोते-रोते माँ को सारा हाल सुनाया। माँ ने सान्त्वना देते हुए कहा, ''बेटा, यदि तुम से कोई भूल न हुई हो, तो जो तुम सत्य समझते हो, उसी पर सर्वदा अडिग रहना।'' माँ के इस उपदेश का परिपूर्ण रूप नरेन्द्रनाथ ने श्रीरामकृष्ण के स्वरूप में पाया था। श्रीरामकृष्ण कहते थे और आचरण करके दिखाते भी थे। 'सत्य ही कलियगु की तपस्या है।' माता और गुरुदेव, दोनों के चरित्र में सत्यनिष्ठा के आदर्श का परिचय पाकर, स्वामी विवेकानन्द ने अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उस आदर्श का रूपायन किया। तभी परवर्तीकाल में सारे विश्व ने स्वामी विवेकानन्द से यह महावलिष्ट वाणी सुनी : 'सत्य के लिए सबकुछ त्याग किया जा सकता है, परन्तु सबकुछ के लिए सत्य का त्याग नहीं किया जा सकता।'

भुवनेश्वरीदेवी ने नरेन्द्रनाथ को और एक शिक्षा दी : 'आजीवन पवित्र रहना, अपनी मर्यादा की रक्षा करना, और कभी दूसरों की मर्यादा

का उल्लंघन मत करना। खूब शान्त रहना। परन्तु आवश्यकता पड़ने पर हृदय को दृढ़ कर लेना।' माता के इस शिक्षा की बदौलत स्वामीजी ने बचपन से ही सीखा था कि किस तरह आत्मसम्मान की रक्षा की जाती है। दूसरे को यथोचित सम्मान देने में जिस प्रकार वे संकोच नहीं करते थे, उसी प्रकार बिना कारण कोई उनका अपमान करे, यह भी वे सहन नहीं करते थे। बालक नरेन्द्रनाथ की, एक बार उनके पिता के एक मित्र ने अकारण अवमानना की। घर में माता-पिता कभी नरेन्द्रनाथ को छोटा समझकर उनकी अवज्ञा नहीं करते थे। इसलिए इस प्रकार का व्यवहार उनके लिए नया था। अवाक् होकर वे सोचने लगे क्या आश्चर्य की बात है—'मेरे पिता भी मुझे इतना तुच्छ नहीं समझते, और ये मुझे इतनी नीची नज़रों से देखते हैं।' जख्मी सर्प की तरह मानो फुफकारते हुए उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा, ''आप की तरह कुछ लोग हैं जो समझते हैं कि छोटे-छोटे बालक की कोई विवेचना नहीं होती, परन्तु यह धारणा नितान्त भूल है।'' नरेन्द्रनाथ का रौद्र रूप देखकर महाशय ने अपनी भूल स्वीकार की। कठोऽपनिषद् के बालक नचिकेता के चरित्र में ऐसी ही आत्मश्रद्धा दृष्टिगोचर होती है। नचिकेता ने कहा था : 'बहुतों के मध्य मैं प्रथम अथवा मध्यम हूँ। परन्तु अधम मैं कदापि नहीं।' नचिकेता का चरित्र स्वामीजी को बहुत प्रिय था।

नरेन्द्र के पिता विश्वनाथ दत्त मुक्त हस्त से दान करते थे। उनके मध्यम पुत्र महेन्द्रनाथ दत्त ने लिखा है : 'गरीबों को दान करना मानो उनका नशा था। अपने मुहल्ले में भी वे दाता विश्वनाथ के नाम से मशहूर थे। किसी के अर्थ संकट को देखकर वे अत्यन्त व्यथित होते थे। इस मामले में वे बिल्कुल बेहिसाबी थे। कुछ नशाखोर उनकी दानी प्रवृत्ति का नाज़ायज़ फायदा उठाते थे। एक दिन जब नरेन्द्रनाथ ने अपने पिता के समक्ष उनकी दानशीलता के इस अपव्यवहार की बात उठायी तो उन्होंने कहा, ''जीवन कितना दुःखमय है, यह तुम अभी कैसे

समझोगे? जब समझने के काबिल बनोगे तब इन पियक्कड़ों का भी, जो अपार दु:ख से क्षणिक निस्तार लाभ करने के लिए नशा करते हैं, तुम दया की दृष्टि से देखोगे।' पिता के उपदेश का पूर्णतर रूप नरेन्द्रनाथ ने श्रीरामकृष्ण के जीवन और वाणी में पाया था। दया की दृष्टि, श्रद्धा की दृष्टि में बदल गई। इसका कारण यह था कि श्रीरामकृष्णदेव ने उन्हें शिक्षा दी थी : 'दया भी छोटी है। मनुष्य ईश्वर का जीवन्त रूप है। ईश्वर को दया दिखाने की बात भी क्या हम सोचते हैं? हम तो ईश्वर की सेवा एवं पूजा करके धन्य हो जाते हैं। इसलिए दया नहीं, शिवज्ञान से जीव सेवा, मनुष्य को भगवान समझकर सेवा करनी चाहिए। कोई भी व्यक्ति घृणा का पात्र नहीं होता। जो पापी है, वह भी असल में भगवान है। चोररूपी नारायण, लुच्चारूपी नारायण।' इसलिए उत्तरकाल में स्वामी विवेकानन्द ने प्रत्येक व्यक्ति को श्रद्धा की दृष्टि से देखा। जो अध:पतित हैं, उन्हें भी कहते : 'God the wicked, God the sinner'—दुर्जन, पापी सभी भगवान हैं। संसार-रूपी नरककुण्ड में किसी व्यक्ति को यदि थोड़ा-सा आनन्द और शान्ति दी जा सके, वही सत्य है। यही तो आजन्म मैं अनुभव कर रहा हूँ।

* * * *

नरेन्द्र कहानी खूब अच्छी कह लेते थे। उनकी बातों एवं व्यक्तित्व में ऐसा आकर्षण था कि कहानी शुरू करने के साथ ही सब अपना-अपना काम भूलकर उनकी बात ही सुनते रहते थे। एक दिन स्कूल में, दो कक्षाओं के मध्यान्तर में वे बातें कर रहे थे। बात इतनी जम उठी थी कि शिक्षक ने आकर पढ़ाना शुरू कर दिया, लेकिन किसी का पढ़ाई की तरफ ध्यान नहीं गया और सभी नरेन्द्र की बातें सुनने में मग्न रहे। कुछ देर बाद शिक्षक ने फिस-फिस की आवाज सुनी तो पूरा माहौल समझ में आया। झुंझलाकर वे एक-एककर सबकी परीक्षा करने लगे

कि जो वे पढ़ा रहे थे, उसे सब सुन रहे थे या नहीं। सभी उत्तर देने में असमर्थ रहे। किन्तु नरेन्द्र का मन तो दो-मुखी था, इसलिए बात करते-करते भी वे अपने मन को पढ़ाई की तरफ लगा रख सकते थे। शिक्षक ने जब नरेन्द्रनाथ से प्रश्न किया तो नरेन्द्र ने बिना कोई भूल किए उत्तर दे दिया। शिक्षक ने पूछा, "इतनी देर तक कौन बातें कर रहा था?" सभी ने नरेन्द्र की ओर इशारा किया। शिक्षक को विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने नरेन्द्र को छोड़कर बाकी सब लड़कों को खड़े रहने का दण्ड दिया। सभी के साथ नरेन्द्र भी उठ खड़े हुए। शिक्षक ने कहा, "तुम्हें खड़े रहने की जरूरत नहीं है।" नरेन्द्र ने कहा, "नहीं, मुझे भी खड़ा होना है, क्योंकि मैं ही तो बातें कर रहा था।' और वे खड़े रहे।

बी.ए. की परीक्षा के लिए शुल्क जमा करने का समय हुआ। केवल हरिदास को छोड़कर नरेन्द्र एवं उसके सभी सहपाठी रुपये जमा कर चुके हैं। वह बहुत गरीब है, रुपये जुटा नहीं पाया। सिर्फ परीक्षा शुल्क ही नहीं, एक साल का शिक्षण शुल्क भी बाकी है। हरिदास के लिए परीक्षा शुल्क देना अगर किसी प्रकार सम्भव हो भी तो एक साल की फीस देना तो असम्भव ही है। सब सुनकर नरेन्द्र आगे बढ़े, वे जानते थे कि ऐसी चिन्ताजनक स्थिति में कॉलेज के एकमात्र वृद्ध किरानी राजकुमार बाबू ही बेड़ा पार लगा सकते थे। नरेन्द्र ने राजकुमार बाबू के पास जाकर कहा, "महाशय, हरिदास शायद रुपये नहीं जमा दे सकेगा, आप जरा अनुग्रह करके उसकी फीस माफ कर दीजिए। वह काफी अच्छी तरह परीक्षा पास करेगा। अगर परीक्षा में नहीं बैठ सका, तो सब मिट्टी में मिल जाएगा।" राजकुमार बाबू का मिजाज अच्छा नहीं था। उन्होंने मुख विकृत करते हुए कहा, "तुम्हें दया दिखाकर सिफारिश करने की कोई जरूरत नहीं है। जाओ, अपनी राह देखो। फीस नहीं देने से उसे मैं परीक्षा के लिए नहीं भेजूँगा।" नरेन्द्र चिन्ता में पड़ गये। उनके लिए भी उतना रुपया जुटाना मुश्किल था। ऊपर से जल्दी ही

रुपये न जुटा पाने से उनका गरीब मित्र परीक्षा में नहीं बैठ सकेगा। क्या किया जाए? उनके दिमाग में एक तरीका कौंध गया।

उस दिन घर न लौटकर शाम के समय हेदवा के नजदीक चरस के अड्डे के पास अन्धेरे में शरीर को कपड़े से ढँककर खड़े रहे, और चरस की दुकान की तरफ जो भी आता उसे देखने लगे। अचानक अन्धेरे से निकलकर नरेन्द्रनाथ किसी के सामने आ खड़े हुए। अब राजकुमार बाबू और नरेन्द्र आमने-सामने थे। हाँ, नरेन्द्रनाथ जानते थे कि राजकुमार बाबू प्रतिदिन उस चरस के अड्डे में नशा करने आते थे। नरेन्द्र को देखते ही राजकुमार बाबू का मुख सूख गया। मौका पाते ही नरेन्द्र ने कहा कि अगर उन्होंने हरिदास का वेतन माफ नहीं किया तो उनकी नशाखोरी का वे पूरे कॉलेज में भण्डाफोड़ कर देंगे। राजकुमार बाबू ने विपत्ति सिर पर मण्डराते देखकर कहा, "नाहक गुस्सा क्यों करते हो? तुम जो बोलोगे वही होगा। तुम जब कह रहे हो, तो मैं किस मुँह से ना करूँ?" कार्यसिद्ध होते देखकर नरेन्द्रनाथ लौट गए। उनकी आँखों से ओझल होते हुए ही राजकुमार बाबू चारों तरफ सहमी दृष्टि से देखते हुए चरस की दुकान में घुस गए।

दूसरे दिन सवेरा होते ही नरेन्द्रनाथ ने हरिदास के घर जाकर अपने मित्र से कहा, "अरे, खूब मौज मनाओ। तुम्हें फीस के रुपये अब नहीं देने पड़ेंगे। उसके बाद पिछली शाम की घटना का हूबहू चित्रण करते हुए दोनों ही ठहाका लगाकर हँस पड़े।

* * * *

स्वामीजी के परिव्राजक जीवन की एक घटना इस प्रकार है। वाराणसी धाम में स्वामीजी गए थे। एक दिन दुर्गामन्दिर से लौट रहे थे कि बन्दरों के एक झुण्ड ने स्वामीजी का पीछा किया। स्वामीजी भागने लगे, बन्दर भी पीछे दौड़े। तभी एक वृद्ध संन्यासी ने स्वामीजी को पुकारकर कहा, "रुको, उन जानवरों का सामना करो।" स्वामीजी साहस जुटाकर पलटकर खड़े हुए, बन्दर पहले सहसा रुक गए, फिर दुम दबाकर भागे। इस घटना से स्वामीजी को जीवन की एक महत्वपूर्ण शिक्षा मिली। विघ्न-बाधाओं को देखकर कभी भागना नहीं चाहिए, निर्भीक हृदय से उससे आँखें मिलानी चाहिए। परवर्ती जीवन में, न्यूयार्क में एक भाषण के समय स्वामीजी ने इस घटना का उल्लेख करते हुए कहा था, "यह पूरे जीवन के लिए एक शिक्षा है। भयंकर दुश्मन से भी आँखें मिलाओ, साहस के साथ उसके सम्मुख खड़े हो जाओ। जीवन के दुःख-कष्ट को देखकर जब हम भागते नहीं तो वे भी बन्दरों की तरह हमारे पास फटकने का साहस नहीं कर पाते। यदि हमें मुक्ति पाना है, तो प्रकृति पर विजय पाकर उसे पाना होगा। प्रकृति से मुँह मोड़कर नहीं। कायर कभी विजयी नहीं होते। यदि हम चाहते हैं कि भय, बाधा, विपत्ति एवं अज्ञता हमसे दूर रहें तो हमें उनके विरुद्ध युद्ध की घोषणा करनी होगी।"

* * * *

स्वामीजी को एक बार किसी ने कहा, "संन्यासी को अपने देश की माया त्यागकर सब देशों के प्रति समदृष्टि अपनानी चाहिए।" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "जो अपनी माता को प्यार नहीं देता, वह दूसरों को भोजन, दूसरों की माँ का पालन कैसे करेगा?" अर्थात् संन्यासी के लिए भी यही उचित है कि वे अपनी मातृभूमि के प्रति अटूट प्रेम का सृजन करें। जो अपने देश से प्यार नहीं करता, वह पूरी वसुधा को कैसे अपनाएगा? पहले स्वदेश प्रेम, फिर उस स्वदेश-प्रेम का सहारा लेकर ही विश्व-प्रेम करना चाहिए।"

* * * *

हिमालय की उबड़-खाबड़ भूमि को पार करते हुए स्वामीजी चलते

जा रहे थे। एक चढ़ाई के सामने स्वामीजी ने एक क्लान्त, विपन्न और हताश वृद्ध को खड़ा देखा। स्वामीजी को देखकर वृद्ध का हताश स्वर फूट पड़ा, "महाराज, इतनी लम्बी दूरी किस प्रकार तय करूँगा? मैं तो एक कदम चलने में भी असमर्थ हूँ। मेरी छाती फटी जा रही है।" स्वामीजी ने उनसे कहा, "अपने पैरों की तरफ जरा देखिए, पीछे आपके पैरों के नीचे जो पृथ्वी पड़ी है, उसे आप रौंद चुके हैं, और सामने जो राह आप देख रहे हैं, वह भी तो एक ही राह है। इस राह को भी आप शीघ्र ही रौंद डालेंगे।" स्वामीजी की बातों को सुनकर वृद्ध का नैराश्य मिट गया। उन्होंने बचे हुए पथ को पार करने के लिए कदम बढ़ाए।

* * * *

घूमते-घूमते स्वामीजी वृन्दावन के समीप आ पहुँचे हैं। रास्ते के किनारे एक व्यक्ति को धूम्रपान करते देखकर स्वामीजी की भी इच्छा हुई कि धूम्रपान करें। लेकिन उस व्यक्ति के पास पहुँचकर चिलम माँगने पर वह भयभीत होकर पीछे हटा और बोला, "महाराज, आप साधु हैं। मैं भंगी (मेहतर) हूँ। स्वामीजी भी कुछ न कहकर अपनी राह चलने लगे। कुछ दूर जाकर उन्हें लगा : 'मैं तो संन्यासी हूँ। मैंने जातिबोध, पारिवारिक सम्बन्ध सबकुछ का त्याग किया है। और मैं एक मेहतर का स्पर्श किया हुआ चिलम न पी सका। छि: छि:!'—उसी क्षण वे लौट आये। मेहतर के मना करने के बावजूद उसकी चिलम में उसी से तम्बाकू सजवाया और मुँह लगाकर परम तृप्तिपूर्वक धूम्रपान करने लगे।

* * * *

जब स्वामीजी काशी पहुँचे, तो खबर मिली कि गुरुभाई बलराम बाबू का देहान्त हो गया है। इस खबर को सुनकर स्वामीजी आँसू रोक

न सके। स्वामीजी को शोक में डूबा हुआ देखकर काशी के विख्यात पण्डित प्रमदादास मित्र ने कहा, "आप संन्यासी होते हुए भी इतना शोकाकुल क्यों हैं? संन्यासी के लिए शोक प्रकाश करना अनुचित है।" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "क्या कहते हैं? संन्यासी हुआ तो क्या हृदय का विसर्जन कर दूँ? प्रकृत संन्यासी का हृदय तो साधारण लोगों के हृदय से अधिक कोमल होना चाहिए। कुछ भी हो, आखिर हम लोग भी तो मनुष्य हैं, और फिर वे मेरे गुरुभाई थे। जो संन्यास हृदय को पत्थर बनाने की शिक्षा देता है, मैं उस संन्यास की परवाह नहीं करता।" स्वामीजी कहते थे, "जिस संन्यासी के मन में दूसरों का कल्याण करने की इच्छा नहीं, वह संन्यासी नहीं।"

वे कहते थे : 'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय संन्यासी का जन्म हुआ है ... दूसरों के लिए प्राणों का बलिदान देने, जीवों के गगनभेदी क्रन्दन का निवारण करने, विधवा के अश्रु पोंछने, पुत्र-वियोग से शोक-सन्तप्त प्राण में शान्ति का संचार करने, अज्ञ तथा अन्त्यजों को जीवन-संग्राम के लिए उपयोगी बनाने, ... सभी का ऐहिक और पारमार्थिक मङ्गल करने तथा ज्ञान-आलोक से सबके अन्दर प्रसुप्त ब्रह्मसिंह को जाग्रत् करने के लिए ही जगत् में संन्यासी का जन्म हुआ है।'

* * * *

पवहारीबाबा के प्रति स्वामीजी की बहुत श्रद्धा थी। उन्होंने उनके दर्शन भी किए थे। स्वामीजी ने सुना था—पवहारीबाबा की कुटिया में एक बार चोर घुसा था। चोरी करके भागते समय पवहारीबाबा उन चीजों को लेकर उस चोर के पीछे-पीछे दौड़े और बहुत दूर तक जाने के पश्चात् उस चोर को पाकर उसे वे सारी चीजें देकर लौट आये। स्वामीजी जब हिमालय क्षेत्र में विचरण कर रहे थे तो एक सौम्यदर्शी संन्यासी को देखकर आकृष्ट हुए। उनके साथ बातचीत के दौरान स्वामीजी को प्रतीत

हुआ कि वे सचमुच पहुँचे हुए हैं। परन्तु स्वामीजी के आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उन्होंने उनके मुख से सुना कि वे ही वह व्यक्ति हैं जो पवहारी बाबा की कुटिया में चोरी करने घुसे थे। साधु ने कहा, "पवहारीबाबा ने जब मुझे नारायणज्ञान से ओतप्रोत हृदय से सर्वस्व अर्पित किया, तब मुझे अपना दोष समझ में आया और अपनी हीनता पर लज्जा का बोध हुआ और तब से ऐहिक अर्थ का त्यागकर पारमार्थिक अर्थ की खोज में निकल पड़ा।" इस घटना ने स्वामीजी के मन पर गहरा प्रभाव डाला था। इस साधु की बात ध्यान में रखते हुए उन्होंने परवर्ती काल में कहा : 'पापियों के बीच भी साधुत्व का बीज छिपा रहता है।'

* * * *

परिव्राजक जीवन की एक और घटना है। मेरठ में आकर स्वामीजी की कुछ और गुरुभाइयों से मुलाक़ात हुई। वे भी संन्यास ग्रहणकर परिव्राजक वेश में घूम रहे थे। सब भाइयों न मिलकर एक जगह ठहरने का निश्चय किया। स्वामीजी अध्ययन करना बेहद पसन्द करते थे। एक गुरुभाई प्रतिदिन एक स्थानीय पुस्तकालय से उनके लिए किताब ले आते थे। किताबें मोटी-मोटी होतीं। किन्तु स्वामीजी एक ही दिन में खत्म कर देते थे। इसलिए प्रतिदिन ही उस किताब को लौटाकर दूसरी किताब लानी पड़ती थी। लाइब्रेरियन ने सोचा—स्वामीजी सिर्फ लोगों को दिखाने के लिए पढ़ने का स्वांग रचते हैं। स्वामीजी के गुरुभाइयों के सामने उन्होंने अपने इस सन्देह को प्रकट किया। स्वामीजी इस बात को सुनकर, एक दिन खुद उस लाइब्रेरियन के पास जाकर कहा, "मैंने किताबों को अच्छी तरह से पढ़ा है। आपको अगर सन्देह है तो आप किसी भी किताब से प्रश्न पूछ सकते हैं।" लाइब्रेरियन ने ऐसा ही किया। स्वामीजी ने सब प्रश्नों का उपयुक्त उत्तर दिया। यह देखकर

उनके विस्मय की सीमा नहीं रही। वे सोचने लगे—क्या ऐसा भी सम्भव हो सकता है ! खेतरी के राजा के साथ परिचित होने के बाद स्वामीजी जब उनके मेहमान बने, तब राजा ने देखा कि पढ़ने के समय स्वामीजी किताब की तरफ देखकर खूब जल्दी-जल्दी पृष्ठों को उलटते रहते हैं और इसी प्रकार पूरी किताब पढ़ डालते हैं। उन्होंने स्वामीजी से पूछा कि ऐसा किस तरह सम्भव है ! स्वामीजी ने समझाकर कहा, "एक छोटा लड़का जब पढ़ना सीखता है, तब वह एक-एक अक्षर को दो-तीन बार उच्चारणकर शब्द को पढ़ सकता है। तब उसकी नज़र एक-एक अक्षर के ऊपर रहती है। निरन्तर अभ्यास के बाद वह एक दृष्टि में एक वाक्य पढ़ सकता है। इसी प्रकार क्रमशः भाव को ग्रहण करने की क्षमता को बढ़ाये जाने से, एक दृष्टि में एक पृष्ठ पढ़ा जा सकता है और वे इसी तरह पढ़ते हैं। स्वामीजी ने और कहा, "यह सिर्फ अभ्यास, ब्रह्मचर्य और एकाग्रता का परिणाम है।" कोई भी कोशिश करने से सफल हो सकता है।

एक दिन उन्होंने बेलगाँववासी हरिपद मित्र के समक्ष चार्ल्स डिकेन्स के पिकनिक पेपर्स को शब्दशः बोलकर आश्चर्यचकित कर दिया था। जब हरिपद मित्र ने यह सुना कि स्वामीजी ने इस पुस्तक को मात्र दो बार पढ़कर ही याद कर लिया है, तो वे और भी आश्चर्य में पड़ गए। स्वामीजी ने हरिपद मित्र से कहा, "एकाग्रता और ब्रह्मचर्य द्वारा ही इस प्रकार की स्मरणशक्ति प्राप्त करना सम्भव है।"

विदेश से वापस आने के बाद स्वामीजी की एक रोचक घटना है। मठ में एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका का पूरा सेट आया। वह सब स्वामीजी के कक्ष में रखा गया। उनके शिष्य शरत्चन्द्र चक्रवर्ती ने कहा, "इतनी पुस्तकों को पढ़ने के लिए पूरा एक जीवन भी यथेष्ट नहीं है।" सुनकर स्वामीजी ने कहा, "क्या कहा? इन दसों पुस्तकों से इच्छानुसार मुझसे प्रश्न करो, उन सबका उत्तर दूँगा।" शिष्य जानते

नहीं थे कि इस बीच स्वामीजी ने पुस्तक के दस खण्ड पढ़कर समाप्त कर दिये हैं और इस समय ग्यारहवाँ खण्ड पढ़ रहे थे। स्वामीजी के कथनानुसार परीक्षा लेकर वे आश्चर्यचकित रह गये। स्वामीजी ने उनके प्रश्नों का उत्तर ही नहीं दिया, अपितु अनेक बार एन्साइक्लोपीडिया की भाषा तक को हूबहू दुहराकर दिखा दिया। स्वामीजी ने शिष्य से कहा, ''देखो, एकमात्र ब्रह्मचर्य का ठीक-ठीक पालन करने से सम्पूर्ण ज्ञान एक मुहूर्त में प्राप्त हो जाता है। सुनने मात्र से ही स्मरण हो जाता है।''

एक बार विदेश में दर्शनशास्त्र के अध्यापक पॉल डॉयसन स्वामीजी की असाधारण स्मरणशक्ति को देखकर विस्मित हो गये थे। स्वामीजी ने डॉयसन से कहा था कि उनकी स्मरणशक्ति का रहस्य है—मन का संयम और एकाग्रता।

* * * *

राजपुताने की एक घटना है। परिव्राजक स्वामीजी ने आबू पहाड़ पर एक मुसलमान वकील के घर को अपना निवास स्थान बनाया था। एक दिन खेतरी के राजा के प्राइवेट सेक्रेटरी जगमोहनलाल ने वकील के घर आकर स्वामीजी को देखा। स्वामीजी से उन्होंने प्रश्न किया, ''आप को हिन्दू साधु हैं, आप मुसलमान के घर कैसे रह रहे हैं?'' स्वामीजी के लिए जात-पात, धर्म के भेदभाव का संकेतमात्र असह्य था। उन्होंने गरजकर कहा, ''यह आपने क्या कहा? मैं आपके समस्त विधि-निषेध से परे हूँ। मैं मेहतर के साथ भी भोजन कर सकता हूँ। भगवान मुझे अपराधी मानेंगे, इसका भय मुझे नहीं है क्योंकि यह भगवान द्वारा अनुमोदित है। शास्त्र की ओर से भी मुझे भय नहीं है क्योंकि यह शास्त्र द्वारा भी अनुमोदित है। परन्तु मुझे आपका और समाज का भय है क्योंकि आप लोग तो भगवान या शास्त्र की परवाह नहीं करते। मैं देखता हूँ कि विश्व-प्रपञ्च में सर्वत्र ब्रह्म स्थापित है। मेरी दृष्टि में ऊँचा-नीचा कोई नहीं है। शिव, शिव।'' स्वामीजी के कथन और भंगिमा में जैसे विद्युत विकीर्ण हो रही थी। जगमोहनलाल मुग्ध-से खड़े रह गये।

* * * *

एक दिन खेतरी के राजा ने संगीत का आयोजन किया जिसमें एक बाईजी गाना गाने वाली थी। स्वामीजी राजा के अतिथि थे। राजा ने महफिल में आने का निमन्त्रण देते हुए एक व्यक्ति को उनके पास भेजा। स्वामीजी नहीं आये, कहलवा भेजा—एक संन्यासी के लिए इस प्रकार के उत्सव में सम्मिलित होना अनुचित है। गायिका यह सुनकर मर्माहत हुई। उसने दु:खी होकर गाना प्रारम्भ किया—'प्रभु मेरे अवगुण चित्त ना धरो, समदर्शी है नाम तिहारो, अब मोहि पार करो'—'हे प्रभु, मेरे दोषों को न देखो, तुम्हारा नाम तो समदर्शी है, मेरा उद्धार करो।' स्वामीजी के कानों में यह गाना पहुँचा। गीत के हर बोल से यह प्रकाशित हो रहा था कि भगवान सर्वत्र हैं, सभी वस्तुओं में हैं। गाना सुनकर स्वामीजी ने मन ही मन अपने आपको धिक्कारा : 'मैं क्या यही संन्यासी हूँ? मैं संन्यासी हूँ, फिर भी मेरे और नारी के मध्य मेरा भेदज्ञान रह ही गया।' उनकी आँखें खुलीं। उन्होंने जाना—सभी के अन्दर वही एक सत्ता विराजमान है। वे किसी से घृणा नहीं कर सकते। उसी क्षण स्वामीजी संगीत उत्सव में उपस्थित हो गए। सुना जाता है कि गाना समाप्त होने पर बाईजी को माता सम्बोधित कर स्वामीजी ने उनसे क्षमा प्रार्थना की।

* * * *

राजस्थान के एक रेल्व स्टेशन पर स्वामीजी उपस्थित हैं। सारे दिन उनके पास लोग आते रहे और उनसे अनेक प्रश्न पूछते रहे। स्वामीजी सब प्रश्नों के उत्तर देते गए। लोगों का आना रुका नहीं और इधर

स्वामीजी के धर्मप्रसंग को भी विश्राम नहीं। लोग तो बहुत आये और गये, किन्तु किसी ने एक बार भी खोज नहीं की कि स्वामीजी ने भोजन किया है या नहीं। इस प्रकार लगातार तीन दिन तक अनाहार रहकर स्वामीजी ने धर्मप्रसंग जारी रखा। जल तक नहीं पी सके। तीसरे दिन रात्रि समय सभी के चले जाने के पश्चात् एक गरीब आदमी ने आकर उनसे पूछा, "महाराज, आपने लगातार तीन दिन तक वक्तव्य दिया, बीच में पानी तक नहीं पीया। इससे मेरे हृदय को बहुत दु:ख पहुँचा है।" स्वामीजी के मन को ऐसा आभास हुआ कि स्वयं भगवान ही दीन वेश में आये हैं। उन्होंने कहा, "तुम मुझे खाने को कुछ दोगे?" वह व्यक्ति जाति का चमार था। उसने कहा, "मेरा हृदय तो यही चाहता है, किन्तु मैं अपने द्वारा बनाई रोटी आपको कैसे दूँ?" यदि आप आज्ञा दें तो मैं आटा, दाल आदि आपके लिए ला दूँ। आप भोजन बना लीजिए।" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "नहीं, अपनी बनाई रोटी ही मुझे दो, मैं उसे खाऊँगा।" वह व्यक्ति ऐसा सुनकर डर गया कि राजा को यदि पता चल गया कि चमार होकर मैंने संन्यासी को अपनी रोटी बना दी है, तो हो सकता है वे मुझे इसका दण्ड दें। फिर भी साधु-सेवा के प्रबल आन्तरिक आग्रह के कारण वह अपनी विपत्ति को भूलकर स्वामीजी के लिए रोटी बनाकर ले आया। उसकी दया देखकर स्वामीजी की आँखों में आँसू भर आये। उन्होंने सोचा—हमारे देश के गरीब घरों में ऐसे कितने ही मनुष्य निवास करते हैं, जो बाहर से तो दीन-दरिद्र और अस्पृश्य हैं, किन्तु अन्दर से महान हैं। इधर स्टेशन के कई भद्र लोगों की नज़र पड़ी कि स्वामीजी चमार के हाथ से भोजन खा रहे हैं, तब उन्होंने आकर उनसे कहा, "आपने नीच व्यक्ति का छुआ खराब भोजन खाकर क्या अच्छा किया है?" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "तुम लोगों ने तो तीन दिन लगातार मुझे बकवाया, किन्तु मैंने कुछ खाया है या नहीं, इसकी क्या खोज-खबर ली? जब इसने मेरी सुध ली है तो यह नीच व्यक्ति हो

गया, और स्वयं को भद्र व्यक्ति कहकर अपनी बड़ाई करते हो। उसने जो मनुष्यत्व दिखाया है, उससे तो वही महान हो गया है।"

* * * *

महान् पुरुषों के मन में कभी-कभी असन्तोष उत्पन्न हो जाता है। परिव्राजक स्वामीजी के मन मे भी एक बार ऐसा हुआ था। उनके मन में यह बात आई—जिस महान उद्देश्य की बात सोचकर उन्होंने संसार-त्याग किया है, उन्हें लगा कि वह उद्देश्य पूरा न होगा। फिर इस जीवन से ही क्या लाभ? अनाहार और तपस्या से वे देहत्याग करेंगे। ऐसा सोचते-सोचते वे लगातार चलते ही गए। वनमार्ग होने के कारण सारे दिन एक मुट्ठी भिक्षा तक नहीं मिली। सन्ध्याकाल होने पर थककर वे उसी वन के मध्य एक वृक्ष के नीचे लेट गए। थोड़ी देर बाद देखा—एक शेर उनकी तरफ बढ़ता चला आ रहा है। स्वामीजी जरा भी विचलित नहीं हुए। सोचने लगे—अच्छा हुआ। मैं भी भूखा हूँ और शेर भी भूखा है। मेरे द्वारा जगत्-कल्याण की कोई सम्भावना तो देखी नहीं जाती। अत: मेरे शरीर की सहायता से यदि इस पशु की क्षुधा की तृप्ति होती है, तो इसमें खराब क्या है? यह सोचकर वे चुपचाप लेटे रहे जिससे शेर उनके ऊपर झपट पड़े, पर शेर ने उन्हें देखकर भी अनदेखा कर दिया और अकस्मात् मुँह पलटकर जंगल में अदृश्य हो गया। स्वामीजी ने सोचा, शायद वह फिर वापस आये। सारी रात वृक्ष के नीचे लेटे-लेटे उन्होंने शेर की प्रतीक्षा की। किन्तु शेर फिर लौटकर नहीं आया।

* * * *

परिव्राजक स्वामीजी के साथ मैसूर महाराज का घनिष्ठ सम्बन्ध था। अन्य लोगों के समान ही मैसूर महाराज स्वामीजी की प्रतिभा और व्यक्तित्व से अभिभूत थे। एक दिन महाराज ने स्वामीजी से प्रश्न किया,

"स्वामीजी मेरे सभासदों के सम्बन्ध में आपकी क्या राय है?" सभासद वहीं उपस्थित थे। उनके सामने ही स्वामीजी ने कहा, "सभासदों का स्वभाव सर्वत्र समान होता है।" स्वामीजी के इस स्पष्ट संकेत के लिए महाराज प्रस्तुत नहीं थे। उन्होंने आपत्ति करते हुए कहा, "नहीं, नहीं स्वामीजी, मेरे सभासदों में अन्ततः इस प्रकार का कोई व्यक्ति नहीं है।" स्वामीजी ने कहा, "किन्तु महाराज, सभासदों का काम ही होता है, राजा के धन को खिसकाकर अंग्रेज सरकार के प्रतिनिधि को देना।" महाराज ने शीघ्रता से बात को दूसरी ओर मोड़ दिया और कुछ क्षण बाद स्वामीजी को अपने कक्ष ले जाकर कहने लगे, "देखिये स्वामीजी, अत्यधिक स्पष्टवादिता अनेक समय निरापद नहीं होती है। आपने मेरे सभासदों के सामने जिस प्रकार की बातें कहीं थीं, यदि भविष्य में भी इसी प्रकार बोलते रहेंगे, तो मुझे भय है कि कहीं कोई आपके ऊपर विष प्रयोग न कर बैठे।" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "आपने क्या कहा? आप क्या सोचते हैं कि जो वास्तव में साधु हैं, वे सत्य बोलने में भय करेंगे? जीवन का भय रहने पर भी मेरी स्पष्टवादिता पर कोई आँच नहीं आ सकती। "महाराज, मान लीजिए, यदि आपका पुत्र कल मुझसे पूछे कि मेरे पिताजी के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं? तब क्या मुझे आपके उन सब गुणों का बखान करना होगा, जिनके विषय में निश्चित रूप से जानता हूँ कि आप उसके अधिकारी कभी नहीं रहे, कभी भी नहीं।" इस प्रकार के स्पष्टवादी होने के कारण ही स्वामीजी की यह विशेषता थी कि किसी में कोई दोष देखने पर उसके सामने ही वे भर्त्सना करते थे। किन्तु पीठ पीछे उसके गुणों का ही वर्णन करते। उस समय उनके मन में उसका दोष मानो तिरोहित हो जाता।

* * * *

स्वामीजी के गुरुभाई स्वामी तुरीयानन्द (हरि महाराज) से एक

घटना का पता चलता है। विदेश गमन के कुछ दिन पहले आबूरोड में स्वामीजी ने तुरीयानन्द से कहा, "हरिभाई, मैं अभी तक तुम लोगों के तथाकथित धर्म को नहीं समझ पा रहा हूँ।" यह कहते-कहते स्वामीजी के मुख पर विषाद की गहरी छाया उभर आई। अपने हृदय पर उन्होंने हाथ रखकर कहा, "किन्तु मेरा हृदय इतना विशाल हो गया है कि दूसरे के दुःख को अनुभव करना सीख लिया है। विश्वास करो, तीव्र दुःखानुभूति मुझमें जाग रही है।" स्वामीजी का गला रुँध गया—नेत्रों से अश्रु बहने लगे। स्वामी तुरीयानन्द स्तब्ध हो गये। उन्होंने मन ही मन सोचा—बुद्ध ने क्या ठीक ऐसा ही अनुभव नहीं किया था? और ऐसी ही बात नहीं कही थी? तुरीयानन्द ने जैसे स्पष्ट रूप से देखा—संसार के दुःख के कारण स्वामीजी का हृदय आलोड़ित हो उठा है। उनका हृदय मानो एक बहुत कड़ाही है जिसमें वे एक ऐसा मलहम तैयार करने जा रहे हैं, जिससे संसार का समस्त दुःख दूर हो जाएगा।

* * * *

स्वामीजी स्वयं के प्रति श्रद्धा करते थे। उनके मन में अपने देश और जाति के प्रति श्रद्धा थी। साथ ही साथ वे चाहते थे कि भारतवर्ष के प्रत्येक नागरिक में आत्ममर्यादा की भावना प्रतिष्ठित हो। विदेश गमन के पूर्व की एक और घटना है। आबूरोड़ स्टेशन पर स्वामीजी गाड़ी में बैठे हैं। गाड़ी चलने में अभी देर है। उनके एक बंगलाभाषी अनुयायी गाड़ी के डिब्बे में साथ बैठकर उनसे बात कर रहे हैं। उसी समय एक अंग्रेज टिकट-चेकर ने आकर उन सज्जन को गाड़ी से उतर जाने के लिए कहा। वे सज्जन भी रेल कर्मचारी ही थे। अंग्रेज को उन्होंने यह समझाने की चेष्टा की कि उन्होंने नियम के विरुद्ध कुछ भी नहीं किया है। अंग्रेज ने उनकी बात पर कान ही नहीं दिया। फलस्वरूप दोनों में तर्क-वितर्क होने लगा। जब झगड़ा बढ़ता ही गया, तब

स्वामीजी ने मध्यस्थता करने की चेष्टा की। अंग्रेज ने स्वामीजी को सामान्य संन्यासी समझा। इसलिए उन्हें धमकाते हुए कहा, "तुम क्यों बात करता है?" इस बार स्वामीजी गरज उठे, "तुम क्यों कहते हो? ठीक प्रकार व्यवहार करना भी नहीं जानते? फर्स्ट क्लास और सेकेण्ड क्लास के यात्रियों की तुम देखभाल करते हो और लोगों के साथ कैसे व्यवहार किया जाता है, यह भी नहीं जानते। आप क्यों नहीं कहते?" अन्य कोई उपाय न देखकर अंग्रेज ने इसबार अंग्रेजी में कहा, "मैं दुःखित हूँ। मैं इस भाषा को भली प्रकार नहीं जानता। मैं केवल इस आदमी को ..." स्वामीजी को और सहन नहीं हुआ। बात समाप्त भी नहीं हुई थी कि वे तीव्र स्वर में बोल पड़े, "तुमने यह कहा कि तुम हिन्दी भाषा को अच्छी तरह नहीं जानते। मैं देखता हूँ कि तुम अपनी भाषा भी ठीक तरह से नहीं जानते। आदमी किसको कह रहे हो? वह एक सज्जन व्यक्ति हैं।" स्वामीजी ने उस अंग्रेज से कहा कि उसके दुर्व्यवहार की चर्चा वे ऊपरवाले अधिकारियों से करेंगे। भयभीत होकर अंग्रेज उसी दम चुपचाप खिसक गया। चारों ओर भीड़ जमा हो गयी।

स्वामीजी के साथ उस बंगाली सज्जन के अतिरिक्त मुंशी जगमोहनलाल भी थे। अंग्रेज के चले जाने पर जगमोहनलाल की ओर घूमकर स्वामीजी ने कहा, "यूरोपियन के साथ व्यवहार करते समय हमें किस चीज़ की आवश्यकता है, देखा ! वह है आत्मसम्मान का ज्ञान। हम कौन हैं, किस प्रकार के लोग हैं, यह न समझने के कारण ही हम ऐसा व्यवहार करते हैं कि ये लोग हमारे सिर पर चढ़ते जा रहे हैं। दूसरों के समक्ष हमें अपनी मर्यादा बनाए रखना चाहिए। ऐसा न करने पर वे हमें तुच्छ समझकर हमारा अपमान करते हैं। यह तो दुर्नीति को प्रश्रय देना हुआ। शिक्षा और सभ्यता में हिन्दू संसार की किसी भी जाति से हीन नहीं है। किन्तु वे स्वयं को हीन मानते हैं। इसीलिए एक सामान्य विदेशी भी हमें लात मारता है और हम उसे चुपचाप सहन कर जाते हैं।"

स्वामीजी ने भारतीयों को शिक्षा दी कि कैसे अपने देश और संस्कृति के प्रति श्रद्धा करनी चाहिए। विदेश में पाश्चात्य सभ्यता के वैभव के सम्मुख खड़े होकर भी उनके मन में किसी प्रकार का हीनत्वबोध नहीं हुआ क्योंकि उन्होंने अनुभव किया था कि विश्व को पाश्चात्य भौतिक सभ्यता की अपेक्षा भारत की अध्यात्म आधारित सभ्यता की अनिवार्यता किसी भी प्रकार कम नहीं, वरन् अधिक ही है। इसलिए उन्होंने गर्व और दृढ़ता के साथ उच्च स्वर से भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की महिमा की उद्घोषणा की। उनके इस दृढ़ एवं साहसी मनोभाव का ही परिणाम था कि पाश्चात्य देशों के हजार-हजार लोग भारत और भारतीय सभ्यता के प्रति श्रद्धा से नत हो गये। धर्मसभा में विश्ववासियों के समक्ष वे किस रूप से उद्भासित हुए थे, इसका उदाहरण एनी बेसेण्ट का यह वक्तव्य है। एनी बेसेण्ट ने कहा था, "शिकागो के धनी वातावरण के मध्य एक देदीप्यमान भारतीय सूर्य, सिंहसदृश ग्रीवा और मस्तक, अन्तर्भेदी दृष्टि, स्पन्दित अधरों एवं आश्चर्यजनक द्रुतगतिसह, गैरिक वस्त्र में परमाश्चर्य व्यक्तित्व, धर्मसभा के प्रतिनिधियों के लिए निर्दिष्ट कक्ष में, जब मैंने प्रथम उन्हें देखा तो स्वामी विवेकानन्द के सम्बन्ध में मेरी प्रथम प्रतिक्रिया का रूप यही था। निश्चय ही वे सैनिक संन्यासी हैं, वरन् प्रथम दर्शन में तो वे संन्यासी की अपेक्षा सैनिक ही अधिक लगते हैं। मञ्च से नीचे उतरते समय उनके शरीर के रोम-रोम से देश और राष्ट्रीय गर्व प्रस्फुटित हो रहा है। पृथ्वी के प्राचीनतम धर्म के प्रतिनिधि स्वामीजी उन कौतुहली आधुनिकों से घिरे हैं, जो किसी प्रकार भी अपने दावे को छोड़ने को तैयार नहीं, वे जैसे यह बताना चाहते हैं कि वे जिस प्राचीनतम धर्म के प्रतीक पुरुष हैं, वह धर्म आसपास के सभी धर्मसमूहों की महिमा से हीनतर है। किन्तु नहीं, ऐसा नहीं है। जबतक भारत की वाणीरूपी यह सन्तान विद्यमान है, तबतक पश्चिमी देशों के समक्ष भारत को लज्जित नहीं

होना पड़ेगा। भारत के स्वर को वाणी देने के लिए वे यहाँ आए हैं। उन्होंने भारत का नाम उज्ज्वल किया है। सम्पूर्ण देशों के मध्य साम्राज्ञी के समान स्थित जिस देश से वे आये हैं, उसकी मर्यादा की बात उन संन्यासी को विस्मृत कभी नहीं हुई। प्राणवन्त, शक्तिसम्पन्न, निश्चित उद्देश्य पर दृढ़ स्वामी विवेकानन्द पुरुषों में पुरुष हैं। वे जो स्वयं को उत्कृष्टता में प्रतिष्ठित करने में समर्थ चरित्र हैं।

शिकागो की धर्मसभा में पहले दिन की वक्तृता ने ही स्वामीजी को अमेरिका के जन साधारण के बीच विख्यात कर दिया था। पहले दिन की वक्तृता के बाद उन्हें राजकीय सम्मान सहित अमेरिका के एक धनाढ्य व्यक्ति के घर आमन्त्रित किया गया। परन्तु वहाँ के विलास-वैभव के बीच स्वामीजी को याद हो आयी अपने देश के जनसाधारण की दुःख-दुर्दशा। उन्हें सब मान-सम्मान आदि असह्य लगने लगे। गहरे दुःख से उनका मन भर उठा। पलंग की नरम शय्या उनके शरीर में काँटों की तरह चुभने लगी। बिस्तर को छोड़कर वे भूमि पर लेटे और रो पड़े। सोचने लगे : 'माँ ! मेरा देश जब चरम दारिद्र्य में डूबा हुआ है, तब मैं मान-यश की कल्पना भी कैसे कर सकता हूँ? हम भारतवासी कितने गरीब हैं। कैसी दुर्दशा भुगत रहे हैं ! एक मुट्ठी अन्न के लिए हमारे लाखों लोग मारे जाते हैं। और इस देश के लोग व्यक्तिगत आनन्द-उपभोग के लिए लाखों रुपये पानी की तरह बहा डालते हैं। भारत के जनमानस को कौन उठाएगा? हमारे लिए अन्न कौन जुटाएगा? माँ, पथ-प्रदर्शन करो, मैं कैसे उनकी सेवा कर सकता हूँ?'

इसके कुछ वर्षों बाद की घटना है। बेलूड़ मठ में स्वामीजी जिस कमरे में हैं, उसके साथवाले कमरे में उनके एक गुरुभाई स्वामी विज्ञानानन्द (हरिप्रसन्न महाराज जिन्हें स्वामीजी स्नेहपूर्वक पेसन कहकर पुकारते थे) हैं। एक दिन मध्यरात्रि काल में रोने की आवाज़ सुनकर उनकी नींद टूट गयी। बिस्तर छोड़कर तत्क्षण जब स्वामीजी के कमरे

में झाँका तो देखा कि जमीन पड़े स्वामीजी करुण स्वर में रुदन कर रहे हैं। विज्ञानानन्द ने पूछा, "स्वामीजी आपकी तबियत ठीक नहीं है क्या?" उनकी आवाज़ सुनकर स्वामीजी को चेत आया। चौंककर वे बोले, "कौन? पेसन, मैंने सोचा था तुम सब सो गये हो, तबियत ठीक है। परन्तु देश की दुर्दशा की याद कर मुझे नींद नहीं आ रही है। मन छटपटा रहा है। इसलिए ठाकुर से प्रार्थना कर रहा हूँ कि देश में सुदिनों का आगमन हो और इन बुरे दिनों का अन्त हो जाए।"

देश के लिए दुःख झेलना, देश को प्यार करना मानो मूर्तरूप में स्वामीजी के अन्दर विद्यमान था। स्वामीजी के संसर्ग में जो भी आते, उनके मन में भी भारत प्रेम की भावनाएँ हिलोरे लेने लगतीं। भगिनी क्रिस्टिन लिखती हैं—'मुझे ऐसा लगता है कि जिस समय हमने पहली बार इस अद्भुत कण्ठस्वर से 'इण्डिया' शब्द उच्चारण होते सुना, उसी समय से हमारे मन में भारत-प्रेम की भावना का उदय हुआ। पाँच वर्णों के मेल से बने इस छोटे-से शब्द में इतना कुछ भर दिया जा सकता है, यह विश्वास नहीं होता है। उसमें प्रेम था, तीव्र आवेग था, गर्व था, घर वापस लौट जाने की व्याकुलता थी, पूजा, विच्छेदवेदना, विरह एवं शौर्य था। सैकड़ों पृष्ठ लिखकर भी कोई किसी दूसरे के मन में इस प्रकार के भाव जाग्रत नहीं कर सकता। उनके मुख से उच्चारित उस शब्द में ऐसा जादू था जो प्रत्येक श्रोता के मन में स्वप्नभूमि बन गया है। भारतवर्ष की प्रत्येक वस्तु भारतवर्ष के मनुष्य, भारतवर्ष के आचार-व्यवहार व रीति-नीति, भारत का इतिहास, संस्कृति, उसकी आध्यात्मिक ध्यान-धारणा व शास्त्र, भारतवर्ष की नदियाँ, पहाड़-पर्वत व मैदान सभी कुछ मेरे लिए एक आकर्षक जीवन्त वस्तु बन गये।'

* * * *

एक बार स्वामीजी लन्दन में राजयोग पर भाषण दे रहे थे।

अचानक, भाषण के बीच में एक एंग्लो इण्डियन उठकर स्वामीजी के भाषण पर टिप्पणियाँ करने लगा। श्रोतागण क्षुब्ध हुए, परन्तु स्वामीजी ने इस सज्जन की परवाह न कर भाषण जारी रखा। ये सज्जन क्रमश: सीमा से बाहर हो गये। स्वामीजी बुद्ध की प्रशंसा करते तो, वह बुद्ध की निन्दा करता। स्वामीजी साधुओं की प्रशंसा करते, तो वह साधुओं को चोर-बेईमान कहकर गालियाँ देता। अन्त में जब उसे पता चला कि स्वामीजी बंगाली हैं, तो उसने बंगालियों की निन्दा और अंग्रेजों की प्रशंसा करनी आरम्भ की। बार-बार भाषण में रुकावटें डालने पर स्वामीजी उस सज्जन की ओर मुड़े। उन्होंने उसे ऊँगली दिखाकर इतिहास के पृष्ठों से अंग्रेजों की काली करतूतों का एक के बाद एक ऐसा चित्र सामने रखा कि वह एंग्लो इण्डियन सुनकर अपने-आपको सम्भाल न सका और रो पड़ा। स्वामीजी ने भी तुरन्त मुँह फेर लिया और भाषण के विषय पर पुन: चर्चा जारी रखते हुए भाषण इस प्रकार समाप्त किया मानो कुछ हुआ ही न हो।

अमेरिका में स्वामीजी ने अपने एक भाषण में पाश्चात्य देशों द्वारा भारत की तीव्र निन्दा की समालोचना करते हुए कहा था, "यदि सारा भारतवर्ष मिलकर हिन्दमहासागर के नीचे जितना कीचड़ है, सब उठाकर पाश्चात्य देशों पर फेंक मारे तब भी आप लोगों ने हमारे विरुद्ध जो किया है, उसका अंशमात्र भी प्रतिशोध न होगा।"

* * * *

अमेरिका के पश्चिमी प्रान्त की एक नगरी में स्वामीजी ने एक बार अपने भाषण में कहा था: "जो सर्वोत्तम सत्य तक पहुँच सकते हैं, उन्हें कुछ भी विचलित नहीं कर सकता।" इस बात को कुछ चरवाहों ने सुना। उन्होंने निश्चय किया कि स्वामीजी की इस बात का वे स्वामीजी पर ही प्रयोग करेंगे। जब स्वामीजी उनके गाँव में भाषण देने आये, तब उन्होंने एक टब उलटकर उसके ऊपर स्वामीजी को खड़े होकर भाषण देने को कहा। स्वामीजी बिना हिचकिचाहट के तैयार हो गये और कुछ ही क्षणों में वे भाषण में डूब गये। इतने में उनके कानों के पास से साँय-साँय करती हुई बन्दूक की गोलियाँ निकलने लगीं। लेकिन स्वामीजी ने बिन्दुमात्र विचलित न होकर भाषण जारी रखा। भाषण खत्म होने पर उन चरवाहों ने स्वामीजी को घेर लिया और उनसे हाथ मिलाकर कहा, "हाँ, तुम सचमुच असली आदमी हो।"

* * * *

स्वामीजी उस समय अमेरिका में सुप्रतिष्ठित हो चुके थे। किसी एक स्टेशन पर ट्रेन से उतरते ही उनका भव्य स्वागत किया जा रहा था। इतने में एक निग्रो कुली ने उनकी ओर अपना हाथ बढ़ाकर कहा कि उसने सुन रखा है कि वे उसी के सजातीय हैं, उनके गौरव से निग्रो समाज गौरव का अनुभव करता है, अत: वह उनसे हाथ मिलाने के सौभाग्य का अधिकारी होना चाहता है। स्वामीजी ने तुरन्त उस कुली की ओर अपना हाथ बढ़ाकर कहा, "धन्यवाद भाई, तुम्हें बहुत-बहुत धन्यवाद।" उन्होंने कुली से यह नहीं कहा कि वे निग्रो नहीं हैं। अमेरिका के अनेक होटलों में उन्हें निग्रो मानकर घुसने नहीं दिया जाता था तथा उन्हें अपमानित भी किया जाता था। परन्तु उन्होंने कभी भी यह नहीं कहा कि वे निग्रो नहीं हैं। एक बार एक पाश्चात्य शिष्य ने उनसे पूछा था कि वे इन मामलों में अपना असली परिचय क्यों नहीं देते? स्वामीजी ने कहा था, "क्या हम दूसरों को निम्न दिखाकर खुद ऊँचे हो जाएँगे? मैंने तो इसलिए जन्म ग्रहण नहीं किया है।"

* * * *

मैडम एमा कालवे फ्रांस की एक विख्यात ओपेरा गायिका थीं।

अमेरिका में उनका बहुत नाम था। परन्तु उनके व्यक्तिगत जीवन में शान्ति न थी। वह सदा भोग-विलास में डूबी रहती थीं। तिसपर वह स्वभाव से अत्यन्त ढीठ एवं उग्र थीं। इसीलिए उन्हें शान्ति न थी। सन् १८९४ ई. के मार्च महीने में जब वह शिकागो आई तब उनको एक गहरा सदमा पहुँचा। उनकी इकलौती बेटी की शिकागो में ही आग से जलने के कारण मृत्यु हो गयी थी। इस दुःखद घटना ने कालवे को पागल-सा कर दिया। इस अवस्था में उनकी एक सहेली ने उन्हें स्वामीजी से साक्षात्कार करवाना चाहा। पर कालवे तैयार नहीं हुई। उन्हें लगा कि उनके लिए सिर्फ एक ही रास्ता खुला है और वह है—आत्महत्या। उन्होंने उसकी चेष्टा भी की। लगातार चार बार उन्होंने आत्महत्या करने की चेष्टा की। किन्तु विफल रहीं। अन्त में एक दिन अचानक वह स्वचालित यन्त्र की तरह आप ही स्वामीजी के आवास पर जा पहुँची। वह स्वामीजी के आवास पर बैठक खाने में प्रतीक्षा कर रही थी कि स्वामीजी ने उन्हें अन्दर बुलाया। मन्त्रमुग्ध-सी वह अन्दर जाकर देखती है कि स्वामीजी ध्यानासन पर बैठे हैं और पलकें उठाये बगैर ही उन्होंने शान्त और स्निग्ध स्वर में कहा, "बेटी, तुमने कैसा अशान्त वातावरण अपने चारों ओर बना लिया है ! शान्त होकर बैठो, यह तुम्हारे आध्यात्मिक कल्याण के लिए अत्यन्त जरूरी है।" इसके बाद स्वामीजी कालवे के जीवन की विभिन्न घटनाओं का एक के बाद एक जिक्र करने लगे जिसका पता कालवे के अत्यन्त मित्रों को भी ज्ञात नहीं था। कालवे स्वामीजी के साथ बहुत देर तक रही। तत्पश्चात् विदाई लेने का समय आने पर स्वामीजी ने कहा, "सब कुछ भूल जाना होगा। फिर से खुशी एवं सुखी होओ, शरीर को स्वस्थ रखो। चुपचाप बैठकर सिर्फ दुःख की बात मत सोचा करो।" क्षण भर में कालवे के मन में सभी तरह की अशान्ति एवं दुःख न जाने कहाँ गायब हो गये ! उसे लगा कि स्वामीजी ने उसके मन से सभी प्रकार की जटिलताओं को दूर करके

उसके स्थान पर अपनी पवित्र एवं शान्त भावराशि उड़ेल दी है। उस दिन कालवे ने एक नया जीवन प्रारम्भ किया।

* * * *

प्रख्यात धनकुबेर डी. रॉकफेलर एक दिन अचानक स्वामीजी के समीप उपस्थित हुए। अपने दोस्तों से अनेक बार उन्होंने स्वामीजी के बारे में सुना था। बहुतों ने उन्हें स्वामीजी से मिलने को कहा। किन्तु हर बार उन्होंने कोई-न-कोई बहाना बनाकर टाल दिया। रॉकफेलर अत्यन्त ही दृढ़ चित्त के मनुष्य थे। दूसरा कोई उन्हें आसानी से प्रभावित नहीं कर सकता था। वे ही एक दिन स्वामीजी के निवास स्थान पर जा पहुँचे। सीधे स्वामीजी के पठन-गृह में चले गये। स्वामीजी मेज की दूसरी ओर बैठे थे। कौन आया है, इसे देखने के लिए आँख तक नहीं उठाई। स्वामीजी ने बिना पलकें उठाये ही रॉकफेलर के जीवन की ऐसी घटनाओं का जिक्र किया जो उन्हें छोड़कर और किसी को भी पता न था। रॉकफेलर आश्चर्यचकित हो गए, परन्तु उन्होंने घुटने न टेके। स्वामीजी ने रॉकफेलर से आगे कहा, "आपका जमाया हुआ धन आपके लिए नहीं है, आप केवल इस धन के सद्व्यवहार के एक माध्यम मात्र हैं। आपका कर्तव्य है कि इससे संसार का कल्याण करें। ईश्वर ने आपको अपार धन-सम्पत्ति दी, इसका अर्थ यह है कि ईश्वर ने आपको इस धनराशि से मनुष्य की सेवा करने का एक अवसर प्रदान किया है।" रॉकफेलर को कोई इस तरह से उपदेश दे सकता है—यह रॉकफेलर के लिए कल्पनातीत था। झुंझलाकर वे चले गए। विदाई के दो शब्द कहना भी उन्होंने जरूरी न समझा।

परन्तु कुछ सप्ताह बाद रॉकफेलर फिर वापस आये। आँधी की तरह स्वामीजी के कक्ष में जा पहुँचे और उस दिन के समाचार-पत्र को उनके समक्ष रखा। उसमें खबर छपी थी कि जनसाधारण के एक

प्रतिष्ठान के लिए रॉकफेलर ने विशाल धनराशि देने का वायदा किया है। आज भी स्वामीजी मेज की दूसरी ओर बैठे थे। रॉकफेलर ने समाचार-पत्र को दिखाते हुए क्रुद्ध होकर कहा, "यह लीजिए, अब तो आप खुश होंगे और इसके लिए आप मुझे धन्यवाद दे सकते हैं।" स्वामीजी बिना आँख उठाये और बिना हिले-डुले, समाचार-पत्र को पढ़कर धीमे से बोले, "धन्यवाद तो आपको ही मुझे देना चाहिए।" बाद में चलकर जो असाधारण दानी के रूप में विख्यात हुए थे, उसी जॉन रॉकफेलर का यह सर्वसाधारण के प्रति पहला बड़ा दान था।

* * * *

अमेरिका के तत्कालीन अज्ञेयवादी (agnostic) वक्ता रॉबर्ट इंगरसोल के साथ स्वामीजी का परिचय हुआ था। दोनों बिल्कुल विपरीत समाज के रहनेवाले थे। इंगरलसोल धर्म-विरोधी, इन्द्रियातीत सत्य के परम विरोधी थे। और स्वामीजी थे सच्चे अर्थ में धार्मिक, शाश्वत सत्य में आस्था रखनेवाले। वे धार्मिक-संकीर्णता और आडम्बर के विरोधी थे। इंगरसोल ने एक दिन स्वामीजी से कहा, "मैं इस संसार को जितना हो सके भोग लेने में विश्वास करता हूँ। मैं चाहता हूँ नारंगी को निचोड़कर उसका छिलका फेंक दें, क्योंकि इस संसार को छोड़कर और किसी भी वस्तु की सत्यता के सम्बन्ध में आश्वस्त नहीं हूँ।" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "इस संसाररूपी नारंगी को जिस तरह निचोड़ना चाहते हैं, मुझे उससे अधिक बेहतर उपाय मालूम है, और मुझे उससे अधिक रस भी मिलता है। मुझे मालूम है कि मेरा नाश नहीं होनेवाला है, अत: मुझमें व्यस्तता भी नहीं है। मुझे मालूम है कि मुझमें डर नाम की कोई चीज़ नहीं है। अत: मुझे निचोड़ने में सुख मिलता है। मेरा कोई कर्तव्य नहीं है—स्त्री का, पुत्र का, सम्पत्ति का कोई बन्धन नहीं है। अत: मैं नर-नारी को प्यार करने में सक्षम हूँ। मेरे लिए सभी ईश्वर हैं। एकबार सोचकर देखिए जरा, मनुष्य को ईश्वर मानकर उसे प्यार करने में कितना आनन्द आता है, अपनी नारंगी को इस तरह आप क्यों नहीं निचोड़ते? उससे हजार गुना अधिक रस निकालिए, अन्तिम बिन्दु तक रस निकाल लीजिए।"

* * * *

विदेश से लौटते समय एक अंग्रेज दोस्त ने स्वामीजी से प्रश्न किया था कि पाश्चात्य के विलास-वैभव के बीच चार वर्ष गुजारने के पश्चात् उनकी मातृभूमि उन्हें कैसी लगेगी? स्वामीजी ने उत्तर में कहा था, "विदेश में आने के पहले भी मैं अपनी मातृभूमि से प्यार करता था। परन्तु अब तो मुझे ऐसा लग रहा है जैसे भारत का एक-एक धूलिकण मेरे लिए पवित्र है। भारत की वायु मेरे लिए पवित्र है। भारत मेरी पुण्यभूमि है, मेरा तीर्थस्थान है।"

* * * *

स्वामीजी जब विदेश से भारत आ रहे थे, तब जलयान में दो ईसाई मिशनरी जानबूझकर स्वामीजी के साथ हिन्दूधर्म एवं ईसाई की तुलनात्मक चर्चा करने लगे। जब आलोचना में वे पछाड़ खाने लगे, तब उन्होंने अत्यन्त भद्दी एवं अश्लील भाषा में हिन्दू और हिन्दूधर्म की निन्दा शुरू कर दी। स्वामीजी जब तक हो सका धैर्य धारण करते रहे, परन्तु अन्त में उनसे रहा न गया। धीरे-धीरे एक के पास जाकर अचानक उन्होंने उसकी कमीज की कॉलर कसकर पकड़ा, उसके बाद मजाक में, परन्तु दृढ़ स्वर में बोले, "अगर मेरे धर्म की निन्दा की तो जहाज से नीचे फेंक दूँगा।" वह मिशनरी डर के मारे काँपता हुआ बोला, "कृपया मुझे छोड़ दीजिए। फिर कभी ऐसी भूल न करूँगा।" उसके पश्चात् जब भी जहाज में उनकी स्वामीजी से मुलाक़ात होती, तब

नम्रता से पेश आते थे। इस घटना का उल्लेख करते हुए स्वामीजी भारत वापस आकर एक दिन श्री प्रियनाथ सिंह को कह रहे थे, "अच्छा सिंह, तुम्हारी माँ का यदि अपमान करे तो तुम क्या करते?" प्रियनाथ बाबू ने जवाब दिया, "महाशय, उसकी गर्दन पकड़कर उसे उचित शिक्षा देता।" स्वामीजी बोले, "अच्छी बात है ! यदि तुम्हारे मन में धर्म के प्रति भी ठीक वैसी ही भक्ति रहती, तो तुम कभी भी एक हिन्दू लड़के को ईसाई होते नहीं देख सकते थे। परन्तु देखो, रोज ऐसी घटनाएँ घट रही हैं। परन्तु तुम लोग चुप्पी साधे बैठे हो। तुम लोगों का विश्वास किधर गया? देश के प्रति ममता कहाँ चली गई? तुम्हारे सामने ये पादरी लोग तुम्हारे धर्म को गालियाँ दे रहे हैं। परन्तु कितनों ने इसका प्रतिकार करने की चेष्टा की है? तुम लोगों में कितनों का रक्त इससे गर्म हो गया है?"

* * * *

स्वदेश लौटते समय जहाज एडेन आ रुका। इस जगह को घूमकर देखने के लिए स्वामीजी जहाज से उतर पड़े। दोस्तों के साथ एक गाड़ी में वे तीन मील दूर एक जगह पर पहुँच गए। वहाँ घूमते-घूमते उनकी दृष्टि एक भारतीय पानवाले पर पड़ी। देखते ही वे आनन्द से प्रफुल्लित हो उठे। विदेशी दोस्तों को छोड़कर उसके पास पहुँच गए एवं बड़े आनन्द के साथ गप्पें लड़ाने लगे। कुछ देर बाद जब विदेशी दोस्तों ने स्वामीजी को खोज निकाला तो उन्होंने एक अद्भुत दृश्य देखा। स्वामीजी पानवाले को कह रहे हैं। "भाई, जरा तुम्हारा हुक्का तो लाओ।" पानवाले ने उन्हें वह दिया एवं उसे पाकर वे खुशी-खुशी धूम्रपान करने लगे। उनकी यह बालसुलभ स्वजन प्रीति एवं आनन्द देखकर स्वामीजी के विदेशी दोस्त दंग रह गये।

* * * *

विदेश से वापस आने के बाद स्वामीजी की तबीयत बिगड़ गयी। स्वस्थ होने के लिए वे दार्जिलिंग गए थे। एक दिन प्रात:काल लोगों के साथ टहलने निकले। पास ही एक भूटिया स्त्री पीठ पर बहुत भारी वजन लेकर बड़े कष्ट से चल रही थी। स्वामीजी अपलक उसे देख रहे थे। उस स्त्री का कष्ट मानो पूरी तरह अनुभव कर रहे थे। अचानक वह स्त्री ठोकर खाकर उस बोझ के साथ गिर पड़ी। उसके पंजर में बहुत जोर से चोट लगी। स्वामीजी भी साथ-ही-साथ अपने पंजर में तीव्र वेदना अनुभव करने लगे। वे एकदम रुक गए। कुछ देर बाद उन्होंने कहा कि उन्हें बहुत जोर से चोट लगी है और वे आगे नहीं जा सकते। साथवालों ने पूछा, "स्वामीजी कहाँ चोट लगी है?" उन्होंने अपना पंजर दिखाते हुए कहा, "यहाँ पर लगी है, तुम देखते नहीं उस स्त्री को चोट पहुँची है।" जिन लोगों की अनुभूति अत्यन्त तीव्र होती है, उनके साथ ऐसी घटनाएँ प्राय: ही घटती हैं। श्रीरामकृष्ण के जीवन में ऐसी घटनाएँ देखने को मिलती हैं। गंगा की मझधार में झगड़ा करते-करते एक मल्लाह ने दूसरे की पीठ पर बड़े जोर से एक तमाचा दे मारा। इस दृश्य को देखकर नदी के किनारे बैठे श्रीरामकृष्ण उस तमाचे की चोट का अपनी पीठ पर अनुभव कर चीख उठे थे।

* * * *

लाहौर में स्वामीजी की भेंट अपने एक बालसखा मोतीलाल बसु के साथ हुई। वे ग्रेट इण्डियन सर्कस के सर्वोच्च स्वत्वाधिकारी थे एवं सर्कस का खेल दिखाने लाहौर आये हुए थे। एक लम्बे अरसे के बाद दोस्त को पाकर स्वामीजी पहले की ही तरह अति उल्लास के साथ गप्पें लड़ाने लगे। परन्तु मोतीलाल अपने विश्व-विख्यात दोस्त से बातें करने में झिझक का अनुभव कर रहे थे। अन्त में उन्होंने डरते हुए पूछा, "भाई, तुम्हें अब क्या कहकर पुकारूँगा?" स्वामीजी ने कहा, "मोती,

क्या तुम पागल हो गए हो? मैं क्या बना हूँ? मैं अभी भी वही हूँ और तुम भी वही मोती हो।'' स्वामीजी ने जैसे ये शब्द कहे कि मोतीलालबाबू का सारा संकोच दूर गया।

* * * *

अमेरिका से वापस आने के बाद स्वामीजी अलवार आये। स्टेशन पर उन्हें देखने के लिए अनगिनत दोस्त, अनुरागी एवं गणमान्य व्यक्ति आए थे। अचानक स्वामीजी की दृष्टि पड़ी कुछ दूर पर खड़े अपने एक अनुरक्त भक्त पर, जो दीन-हीन अवस्था में थे। इतने दिनों में स्वामीजी के दर्शन पाने का आनन्द उसके मुखमण्डल पर स्पष्ट प्रतिबिम्बित हो रहा था। वह भी स्वामीजी का सान्निध्य पाना चाहता था, परन्तु गणमान्य व्यक्तियों की भीड़ से रास्ता बनाकर स्वामीजी के पास पहुँचना उसके साहस के परे था।

अपने भक्त को देखते ही स्वामीजी स्थान-काल, रीति-रिवाज़, लोक-लज्जा भूलकर चिल्लाकर बुलाते हैं, ''रामस्नेही ! रामस्नेही !!'' चारों ओर की भीड़ को हटाकर उन्होंने उसे अपने पास बुलाया, फिर पहले की तरह दिल खोलकर उसके साथ बातें करने लगे।

* * * *

अलवार राज्य के अनेक धनी भक्तों के यहाँ से आमन्त्रण पहुँचा, परन्तु स्वामीजी ने एक दरिद्र वृद्धा का निमन्त्रण ही सबसे पहले अति आनन्द के साथ स्वीकार किया। उन्हें स्मरण हुआ कि अपने परिव्राजक जीवन में इस वृद्धा से भिक्षा लेकर उन्होंने अपनी क्षुधा शान्त की थी। स्वामीजी ने कहलवा भेजा कि वे उसके हाथ की बनी वही मोटी-मोटी रोटी फिर से खाने के इच्छुक हैं। स्वामीजी अपने कुछ शिष्यों सहित वृद्धा के घर आए और वृद्धा इस कारण आनन्द से फूली नहीं समाई।

स्वामीजी के कहने के अनुसार उसने मोटी-मोटी रोटियाँ बनायी थीं। अत्यन्त तृप्ति के साथ खाते हुए स्वामीजी बोले, ''आज बूढ़ी माँ के स्नेह का क्या कहना है ! और ये रोटियाँ भी कितनी पवित्र हैं।'' विदाई लेने से पहले स्वामीजी वृद्धा की सेवा के लिए उससे छिपाकर गृहस्वामी को एक सौ रुपये का नोट दे आए।

* * * *

परिव्राजक जीवन में एक बार अलमोड़ा में स्वामीजी क्षुधा एवं थकान से मृतप्राय हो गए थे। साथ में स्वामी अखण्डानन्द थे। पास ही एक मुसलमान फ़क़ीर रहता था। स्वामीजी की अवस्था देखकर उन्होंने एक खीरा लाकर स्वामीजी को खाने को दिया। वही खाकर स्वामीजी जरा स्वस्थ हुए। अमेरिका से वापस आने के बाद अल्मोड़ा में एक सभा में स्वामीजी ने देखा कि फ़क़ीर भी श्रोताओं के बीच खड़ा है। उन्होंने तुरन्त फ़क़ीर को पास बुलाया और सभी को कहा, ''इसी फ़क़ीर ने एक बार मेरी प्राण रक्षा की थी।'' स्वामीजी ने फ़क़ीर को कुछ धन भी दिया। लेकिन फ़क़ीर स्वामीजी को पहचान न सका।

* * * *

स्वामीजी देवघर में प्रियनाथ मुखोपाध्याय के यहाँ ठहरे थे। एक दिन स्वामी निरंजनानन्द के साथ टहलते हुए उन्होंने देखा—सड़क के किनारे एक गरीब पेचिस की बीमारी से आक्रान्त हो छटपटा रहा है। उस गरीब का कष्ट देखकर स्वामीजी व्याकुल हो उठे। उन्होंने सोचा—इसे तुरन्त रास्ते से उठाकर ले जाना होगा तथा अच्छी तरह से इसकी देखभाल व चिकित्सा करनी पड़ेगी। परन्तु वे तो स्वयं ही दूसरों के घर में ठहरे हुए थे। वहाँ ले जाने से कहीं प्रियनाथबाबू बुरा न मान लें। क्षणभर के लिए स्वामीजी हिचकिचाए, फिर उन्होंने निश्चय किया कि जो

भी हो, वे इसे ले जाकर इसकी सेवा अवश्य ही करेंगे। दोनों गुरुभाई मिलकर उस आदमी को किसी तरह प्रियनाथबाबू के घर ले गए। एक कमरे में उसे लिटाकर, उसे नहलाकर नए कपड़े पहनाकर उसे आग से सेंकने लगे। इस तरह सेवा करने से वह व्यक्ति स्वस्थ हो गया। इस घटना को देखकर प्रियनाथबाबू मुग्ध हो गये।

* * * *

गो-रक्षा समिति का एक प्रचारक स्वामीजी के पास आर्थिक सहायता माँगने आया हुआ था। इन लोगों ने देश के विभिन्न भागों में गायों के लिए पिंजरापोल स्थापित किए थे। कसाई के हाथों से गोमाता की रक्षा करना ही इनका व्रत था। सबकुछ सुनकर स्वामीजी ने पूछा, "मध्य-भारत में इस बार भयानक अकाल पड़ा है। भारत सरकार ने अकाल के कारण अनाहार से मरनेवालों की संख्या नौ लाख बताई है। इस अकाल के समय किसी प्रकार सहायता देने की व्यवस्था क्या तुम लोगों की है?" प्रचारक ने कहा कि उनकी समिति केवल गोमाता की रक्षा हेतु ही स्थापित की गई है। दुर्भिक्ष्य में वे सहायता नहीं करते क्योंकि यह दुर्भिक्ष्य मनुष्य के कर्मफल के कारण ही हुआ है। इसमें वे कुछ नहीं कर सकते। इस तरह का तर्क सुनकर स्वामीजी का चेहरा गुस्से से तमतमा उठा। उनकी आँखें से मानो चिनगारियाँ निकलने लगीं। फिर भी अपने को संयत रखकर स्वामीजी शान्त एवं दृढ़ स्वर में बोले, "जो सभा या समिति मनुष्य के प्रति बिन्दुमात्र भी सहानुभूति नहीं रखती है, उसके द्वारा समाज विशेष कुछ लाभान्वित होता है, ऐसा मैं नहीं मानता। कर्मफल के कारण मनुष्य मर रहे हैं, इस तरह कर्म की दुहाई देने से संसार में किसी भी चीज़ के लिए प्रयत्न करना एकदम अर्थहीन साबित हो जाएगा। पशुरक्षा की बात ही लीजिए न, इसके सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है कि गोमाताएँ अपने-अपने कर्मफल के कारण ही कसाइयों

के हाथों प्राण गँवा रही हैं। हमें उसके लिए कुछ करने की आवश्यकता नहीं है।" प्रचारक ने बहुत ही अप्रसन्न होकर कहा, "हाँ, आपने जो कुछ कहा, वह सत्य है। परन्तु शास्त्रों में लिखा है—गाय हमारी माता है।" स्वामीजी ने तुरन्त उत्तर दिया, "अब समझा। ऐसा न होने से ऐसे महारथी सन्तानों को भला और कौन पैदा कर सकता है?" प्रचारक स्वामीजी के इस भयंकर व्यंग्य को भी नहीं समझ सका। उन्होंने फिर एकबार गोमाताओं के लिए सहायता की याचना की। इस पर स्वामीजी ने कहा, "मैं तो संन्यासी हूँ, फ़क़ीर हूँ। मेरे पास धन कहाँ, जिससे मैं आप लोगों की सहायता कर सकूँ ! पर अगर कभी मेरे हाथों में धन आए, तो पहले मनुष्य की सेवा में व्यय करूँगा। पहले मनुष्य की रक्षा करनी होगी। अन्नदान, विद्यादान, धर्मदान करना होगा। इतना सब करने के बाद यदि धन बचे तब आपकी समिति को कुछ दिया जा सकता है।"

* * * *

पण्डित सखाराम गणेश देवस्कर, 'हितवादी' पत्रिका के विख्यात सम्पादक, स्वामीजी के पास भेंट करने आए। साथ में दो और सज्जन भी लाए। उन लोगों में एक पंजाबी थे। जानकर स्वामीजी ने उन लोगों के साथ केवल इस प्रदेश की अन्न समस्या तथा आनुसंगिक कुछ अन्य समस्याओं पर ही बातचीत की। वे अन्य किसी भी प्रसंग में नहीं गए। विदाई लेते समय उस पंजाबी सज्जन ने स्वामीजी से कहा, "महाशय, हम लोग बहुत आशा लेकर आए थे कि आपसे धर्म के सम्बन्ध में अनेक उपदेश सुनने को मिलेंगे, परन्तु दुर्भाग्य की बात ! हमारी आलोचना साधारण विषय पर ही हुई। आज का दिन व्यर्थ ही चला गया। स्वामीजी का मुखमण्डल तुरन्त गम्भीर हो गया। वे बोले, "जब तक हमारे देश का एक कुत्ता भी भूखा रहेगा, तब तक हमारा धर्म

होगा, उसे खिलाना एवं उसकी देखभाल करना। उसे छोड़कर बाकी सबकुछ या तो आडम्बर होगा या अधर्म।'' तीनों आगन्तुक स्वामीजी की इन बातों को सुनकर विस्मित हो गये। स्वामीजी के देहावसान के बाद देवस्कर ने लिखा था, 'स्वामीजी द्वारा उच्चारित ये शब्द उनके हृदय में चिरकाल तक चिनगारियों के रूप में अंकित रहेंगे।'

* * * *

उत्तर भारत से एक महान पण्डित स्वामीजी के साथ वेदान्त पर वार्तालाप करने आए हुए थे। उस समय सारा देश अकाल-ग्रस्त था। इसीलिए स्वामीजी का मन बहुत दुःखी था। उस पण्डित के साथ वेदान्त पर विचार करने की उनकी इच्छा न हुई। उन्होंने उनसे कहा, ''पण्डितजी, चारों ओर हाहाकार मचा हुआ है, पहले उसके निवारण की चेष्टा कीजिए। एक मुठ्ठी अन्न के लिए आपके देशवासी जो हृदय विदारक आर्तनाद कर रहे हैं, उसके प्रतिकार की चेष्टा कीजिए। उसके बाद मेरे साथ वेदान्त पर विचार करने आइएगा। सैकड़ों भूख से अकाल-मृत्यु को प्राप्त हो रहे हैं। उनकी रक्षा हेतु अपना सर्वस्व न्योछावर कर देना—यही वेदान्त धर्म का सार है।''

* * * *

एक युवक ने आकर स्वामीजी से कहा, ''स्वामीजी, मैंने अनेकों दलों के साथ योगदान किया है, परन्तु सत्य क्या है, यह मैं आज भी स्थिर नहीं कर पाया हूँ। मैं प्रतिदिन किवाड़ लगाकर ध्यान में बैठता हूँ एवं आँखें बन्द रखता हूँ। परन्तु इसपर भी शान्ति क्यों नहीं पाता? स्वामीजी ने उत्तर दिया, ''यदि शान्ति चाहते हो, तो ठीक उसका उलटा करना होगा, तुम्हारे चारों ओर कितने ही तुम्हारी सहायता की प्रत्याशा में हैं, उनकी सहायता करो। भूखों को अन्न दो, प्यासे को पानी

दो। जितना हो सके दूसरों का उपकार करो—उसीसे तुम्हें मन की शान्ति मिलेगी।''

* * * *

स्वामीजी की इच्छा थी कि अतीत में बुद्ध अनुगामियों ने जिस तरह बुद्ध की वाणी सुदूर क्षेत्रों में फैला दी थी, उसी तरह श्रीरामकृष्ण की वाणी दूर-दूर तक ले जाने के लिए सर्वदा प्रस्तुत रहेंगे। इस व्रत की सूचना के रूप में स्वामीजी ने अपने दो संन्यासी शिष्यों को पूर्व बंगाल में प्रचार के लिए भेजना चाहा। स्वामीजी का आदेश सुन उन दोनों में से एक ने कहा, ''स्वामीजी मैं क्या प्रचार करूँगा? मुझे तो कुछ नहीं आता।'' स्वामीजी बोले, ''तब जाओ, वही बोलो, यह भी एक बहुत बड़ी बात है।'' इसपर भी शिष्य को जाने में आपत्ति हुई। वे तपस्या करने की आज्ञा चाहते हैं। कर्म क्षेत्र में आने से पहले साधन-भजन कर सिद्धि-लाभ करना चाहते हैं। शिष्य की इच्छा जानकर स्वामीजी गरज उठे, ''अगर तुम अपनी मुक्ति के लिए साधना करना चाहते हो, तो तुम जहन्नुम के अधिकारी होगे। परमार्थ लाभ करने के लिए दूसरों की मुक्ति के लिए प्रयत्न करो। अपनी मुक्ति की इच्छा को तिलांजलि दे दो। यही है श्रेष्ठ साधना।'' उसके बाद थोड़ा शान्त होकर बोले, ''मेरे बच्चे, काम में लग जाओ। तन-मन से काम में जुट जाओ। यही काम की बात है। फल की ओर मत देखो। यदि दूसरों का कल्याण करते हुए नरक में जाना पड़े तो उसमें बुराई ही क्या? स्वार्थी बनकर स्वयं स्वर्गलाभ करने से वह कहीं अच्छा है।''

* * * *

स्वामीजी बेलूड़ मठ में कमरे के बरामदे में टहल रहे थे। मध्यरात्रि का समय रहा होगा। अचानक गंगा की धारा पर से एक आर्तनाद उनके

कानों में आया, 'माँ गंगे, मेरी रक्षा करो।' स्वामीजी ठिठककर खड़े हो गए। दूर गंगा की धारा के मध्य एक आदमी बहा जा रहा था। स्वामीजी बोले, "यदि कोई इस मनुष्य को बचाने के लिए अपने प्राण दे सके तो उसे किसी भी चीज़ की जरूरत नहीं है,—तुरन्त मुक्ति।" एक संन्यासी बहुत दूर तक गए, पर बहते हुए मनुष्य को खोज नहीं पाये। निरुपाय, स्वामीजी का चेहरा वेदना से गम्भीर हो गया।

* * * *

एक दिन बलरामबाबू के घर पर स्वामीजी वेद-व्याख्या करने में तल्लीन थे। वहाँ श्री शरत्चन्द्र चक्रवर्ती एवं गिरीष घोष उपस्थित थे। सभी मन्त्रमुग्ध होकर स्वामीजी की सरल भाषा में तर्कपूर्ण व्याख्या सुन रहे थे। इसी समय गिरीषबाबू ने कहा, "नरेन, एक बात कहूँ ! वेद-वेदान्त को तो तुमने पढ़ लिया, परन्तु देश में जो घोर हाहाकार, अन्नाभाव, व्यभिचार, भ्रूणहत्या तथा अन्य महापातकादि आँखों के सामने रात-दिन हो रहे हैं, उनके दूर करने का भी कोई उपाय क्या तुम्हारे वेद में बतलाया है? आज तीन दिन से उस मकान की स्वामिनी के पास, जिसके घर में पहले प्रति दिन पचास पत्तल पड़ती थी, रसोई पकाने की भी कोई सामग्री नहीं है। उस मकान की कुलीन स्त्री को गुण्डों ने अत्याचार करके मार डाला, कहीं भ्रूणहत्या हुई, कहीं विधवाओं का सारा धन कपट से लूट लिया गया। इन सब अत्याचारों के रोकने का कोई उपाय क्या तुम्हारे वेद में है?" इस प्रकार जब गिरीशबाबू सामाजिक भीषण चित्रों को सामने लाने लगे, तो स्वामीजी नि:स्तब्ध होकर बैठ गये। जगत् के दु:ख और कष्ट को सोचते-सोचते स्वामीजी की आँखों में आँसू आ गए। आँसू रोकने के लिए वे कमरे से बाहर चले गए।

तब गिरीशचन्द्र घोष ने शरत्चन्द्र चक्रवर्ती से कहा, "देखो,

स्वामीजी कैसे उदार हृदय के हैं। मैं तुम्हारे स्वामीजी पर केवल इसी कारण श्रद्धा नहीं रखता कि वे वेद-वेदान्त के जाननेवाले एक बड़े पण्डित हैं; वरन् यह कि जीवों के दु:ख से जो रो पड़े और दु:ख से विह्वल होकर बाहर चले गए, मैं उनके इसी सच्चे हृदय के कारण उनका सम्मान करता हूँ। तुमने तो सामने ही देखा कि मनुष्यों के दु:ख और कष्ट की बातों को सुनकर उनका हृदय दया से पूर्ण हो गया और वेद-वेदान्त के सब विचार न जाने कहाँ चले गये।"

* * * *

विदेश से लौटने के पश्चात् रोग-ज्वर से स्वामीजी का शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था। चिकित्सकों के निर्देशानुसार वे दार्जिलिंग गए। दार्जिलिंग में कुछ दिन रहने के बाद स्वामीजी को खबर मिली कि कलकत्ता में प्लेग फैल रहा है। इसके पहले ही स्वामीजी प्लेग फैलने की आशंका से उद्विग्न थे। दार्जिलिंग में मेकलाउड को लिखी चिट्ठी से स्वामीजी के तत्कालीन मनोभाव का पता चलता है। स्वामीजी ने उन्हें लिखा था (२९ अप्रैल १८९८) : "मैंने जिस शहर में जन्म ग्रहण किया है, वहाँ यदि प्लेग फैले, तो मैं उसके प्रतिकार में ही आत्मोत्सर्ग करूँगा—यही मैंने स्थिर किया है, और इस संसार में जितने महापुरुषों ने आलोक की किरणें बिखेरी हैं, उनके आहुति देने की अपेक्षा यह उपाय मेरे निर्वाण के लिए सबसे उत्तम उपाय है।" जब समाचार मिला कि कलकत्ता में सचमुच ही प्लेग फैल रहा है, एवं उसके महामारी बनने की सम्भावना है, तो स्वामीजी तुरन्त कलकत्ते चले आए। उन्होंने आकर देखा कि प्लेग से जितने मनुष्यों की मृत्यु हुई है, उससे कहीं अधिक लोगों के मन में आतंक भर गया है। बड़ी संख्या में लोग मृत्यु के डर से शहर छोड़कर भाग रहे हैं। मनुष्यों के मन में साहस संचार करने के लिए स्वामीजी ने जनसाधारण जनता के बीच घोषणापत्र

वितरित कर यह बतला दिया : रामकृष्ण मिशन उनकी सहायता के लिए उनके साथ है; उनकी सेवा के लिए मिशन खुले मन से अर्थ व सामर्थ्य लगाएगा। इसके अलावा स्वामीजी ने निश्चय किया कि जगह-जगह प्लेग-पीड़ितों के लिए सेवा-केन्द्र स्थापित करेंगे। किन्तु उसके लिए अनेक रुपयों की जरूरत थी। धन कहाँ से आएगा? एक गुरुभाई ने यह प्रश्न किया। स्वामीजी ने तुरन्त उत्तर दिया, "क्यों? जरूरत पड़ने पर मठ के लिए जो जमीन है, उसे बेच दूँगा। हम लोग फक़ीर हैं। भिक्षा करके वृक्ष की छाया में सोकर दिन गुजार सकते हैं। यदि जमीन बेचने पर सैकड़ों लोगों को बचाया जा सकता है, तो वह जमीन किस काम की?" जरूरत की धनराशि अन्य माध्यम से उपलब्ध होने के कारण अन्ततः मठ की जमीन बेचने की आवश्यकता न हुई। स्वामीजी कितने बड़े महाप्राण थे, इसका परिचय हम स्वामीजी की उक्ति से पाते हैं। बेलूड़ मठ की स्थापना के लिए उन्होंने जी-तोड़ परिश्रम किया, खून-पसीना एककर, पैसा-पैसा जोड़-जाड़कर इस मठ की स्थापना की, किन्तु जैसे ही उन्होंने दुःखी मनुष्यों की दुर्दशा देखी, उस मठ की ज़मीन बेचने की बात करते हुए उनकी जीभ तक नहीं लड़खड़ायी।

* * * *

स्वामीजी जब अकेले में रहते थे, तब अनेक बार वे मनुष्य की दुःख-दुर्दशा की बात सोच-सोचकर आँसू बहाया करते थे। उनके विदेश से वापस आने के बाद की घटना है। बलराम बसु के घर स्वामी तुरीयानन्द स्वामीजी से भेंट करने आए। स्वामी तुरीयानन्द ने देखा कि गम्भीर चिन्ता में मग्न स्वामीजी बरामदे में टहल रहे थे। स्वामीजी को ज्ञात नहीं कि स्वामी तुरीयानन्दजी आए हैं। कुछ देर बाद स्वामीजी आँसू बहाते हुए मीराबाई का एक विख्यात गीत गुनगुनाने लगे। अपने दोनों हाथों से मुँह ढाँककर रेलिंग का सहारा लेकर दुःखी मन से गा रहे

हैं—'दरद न जाने कोय, घायल की गति घायल जाने और न जाने कोय' (मेरी व्यथा कोई नहीं जानता। जिसे चोट लगी है केवल वही उसकी यन्त्रणा का अनुभव करता है, और कोई नहीं समझता)। गीत के सुर के साथ-साथ चारों ओर दुःख और विषाद मानो फैल रहा था। स्वामी तुरीयानन्द समझ गये—संसार के मनुष्यों के दुःख की बात सोचकर स्वामीजी अकेले में आँसू बहा रहे हैं। वे भी अपन आँसू रोक न सके।

* * * *

स्वामीजी द्वितीय एवं अन्तिम बार पाश्चात्य जगत् में आए हैं। अमेरिका में एक दिन वे एक नदी के किनारे टहल रहे थे। अचानक उन्होंने देखा कि कुछ युवक एक पुल पर खड़े होकर कुछ तैरते हुए अण्डों के छिलकों की ओर गोली का निशाना बनाने की चेष्टा बार-बार कर रहे हैं। किन्तु एक बार भी सफल नहीं हो पा रहे हैं। खड़े होकर देखते-देखते स्वामीजी के होठों पर मुस्कान उभर गयी। उन युवकों में से एक ने यह देखा। स्वामीजी को चैलेंज करते हुए वह बोला, "यह काम जितना सरल दिख रहा है, उतना सरल नहीं है। जरा देखें तो आप कैसा निशाना लगा सकते हैं।" स्वामीजी ने बिना झिझक बन्दूक ली और फिर एक के बाद एक बारह अण्डों के छिलकों को गोली का निशाना बनाया। युवकगण आश्चर्यचकित हो गए, उन्होंने सोचा—ये अवश्य ही बहुत दिनों से बन्दूक चलाते हैं। स्वामीजी ने उनसे कहा कि इसके पहले उन्होंने बन्दूक नहीं पकड़ी थी। वे जो लक्ष्यभेद में सफल रहे, उसका रहस्य है उनका मनःसंयम।

* * * *

स्वामीजी मिस्र होकर लौट रहे थे। कैरो शहर आए। साथ में कुछ विदेशी शिष्य-शिष्या थीं। कैरो के राजपथ पर अपने साथियों के साथ

घूमते-घूमते भूलकर स्वामीजी उस जगह पर आ गए जहाँ पतिता रमणियों का निवास था। जब साथियों की समझ में यह बात आई, तब उन्होंने स्वामीजी को तुरन्त वहाँ से चले जाने का कहा। किन्तु इसी बीच स्वामीजी अपने साथियों से अलग होकर रास्ते के किनारे बैठी हुई कुछ रमणियों की ओर बढ़ गये। स्वामीजी पतिताओं की ओर देखकर मन ही मन कहने लगे : आह ! बेचारी अभागिन ! वे अपने सौन्दर्य के सम्मुख अपने देवीत्व की बलि दे रही हैं, और उनकी आँखों से आँसू बहने लगे। रमणियाँ पहले हँसती हुई उन्हें आने का बुलावा दे रही थीं। परन्तु फिर उन लोगों ने ही लज्जा से सिर झुका लिया। उनमें से एक स्वामीजी के कपड़े के छोर को चूमकर कहने लगी, "इन्होंने ईश्वर को पहचाना है। ये ही ईश्वर के दूत हैं।" एक और रमणी ने अपने दोनों हाथों से अपना चेहरा ढँककर स्वामीजी की पवित्र दृष्टि से अपने-आपको बचाने की चेष्टा करने लगी।

* * * *

एक बार ट्रेन से सफर करते हुए स्वामीजी ने देखा कि एक मुसलमान फेरीवाला उबला हुआ चना बेच रहा है। साथ के ब्रह्मचारी से स्वामीजी ने कहा, "उबला हुआ चना बहुत ही स्वास्थ्यवर्धक वस्तु है।" ब्रह्मचारी ने एक पैसे का चना खरीदा, परन्तु फेरीवाले को दाम देते वक्त चार आने दिये, क्योंकि वे स्वामीजी के स्वभाव से परिचित थे। वे समझ सके थे कि चना खरीदने के बहाने स्वामीजी वस्तुतः उस फेरीवाले की मदद करना चाहते हैं। स्वामीजी ने पूछा, "क्यों रे, तूने कितने पैसे दिये?" "चार आना।" स्वामीजी बोले, "अरे, इतने में उसका क्या होगा? दो, एक रुपया दे दो। उसके घर में पत्नी है, बाल-बच्चे हैं।" वैसा ही किया गया। लेकिन स्वामीजी ने चने का एक दाना भी स्वयं मुँह में नहीं डाला।

* * * *

बेलूड़ मठ में स्वामीजी जिस कमरे में वास करते थे, उसी के साथवाले कमरे में स्वामी विज्ञानानन्दजी रहते थे। एक बार रात के दो बजे स्वामी विज्ञानानन्दजी की नींद टूट गयी। बाहर निकलकर देखा कि स्वामीजी व्याकुल होकर बरामदे में टहल रहे हैं। विज्ञानानन्दजी ने पूछा, "क्या स्वामीजा ! आपको नींद नहीं आ रही है?" स्वामीजी बोले, "अच्छी नींद सो रहा था कि अचानक जैसे एक धक्का लगा और मेरी नींद टूट गयी। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि कहीं कोई दुर्घटना हुई है एवं अनेक मनुष्यों को दुःख झेलना पड़ा है।" स्वामी विज्ञानानन्दजी मन-ही-मन हँसे—कहाँ क्या दुर्घटना घटी और यहाँ स्वामीजी की नींद टूट गयी। क्या सम्भव है ! लेकिन आश्चर्य !! दूसरे दिन सबेरे समाचार पत्र में छपा था : 'फीजी के पास द्वीप में अग्निकाण्ड से बहुत लोग मारे गए हैं।' अग्निकाण्ड ठीक उसी समय हुआ था जिस समय एक अचानक धक्के से स्वामीजी की नींद टूट गयी थी।

* * * *

स्वामीजी भारतवर्ष के अतीत की महिमा की गाथा बड़े गर्व के साथ कहते थे। उनका यह विश्वास था कि भारतवर्ष का भविष्य अतीत से और भी अधिक महान् होगा। स्वामीजी ने एक दिन बेलूड़ मठ में बैठकर कहा था, "भारतवर्ष के आगामी चार-पाँच सौ वर्षों का इतिहास उलट गया है, मैंने सबकुछ देख लिया है।"

अपने जीवन के अन्तिम दिनों में एक दिन उन्होंने कहा था, "आगामी पचास वर्षों के अन्दर भारत स्वाधीन होगा। परन्तु साधारणतः जिस तरह देश स्वाधीन होते हैं, उस तरह नहीं। बीस वर्षों के अन्दर ही एक महायुद्ध होगा। पाश्चात्य देश अगर भौतिकवाद का त्याग न करेंगे, तो फिर युद्ध अनिवार्य है। स्वाधीन भारतवर्ष धीरे-धीरे पाश्चात्य

के भौतिकवाद को ग्रहण करेगा। प्राचीन ऐहिक गौरव को नवीन भारत म्लान कर देगा। अमेरिका आदि देश धीरे-धीरे अध्यात्मवादी होंगे। वे जड़वाद की चोटी पर पहुँचकर समझ पाएँगे कि जड़ हमें शान्ति नहीं दे सकता।'' और एक बार स्वामीजी ने कहा था, ''अंग्रेजों के भारत छोड़कर चले जाने के बाद चीन द्वारा भारतवर्ष पर अधिकार जमाने की बहुत बड़ी आशंका है।''

* * * *

स्वामीजी से उनकी एक विदेशी महिला मित्र मिस मेक्लाउड ने प्रश्न किया था, ''स्वामीजी, मैं किस तरह आपकी सबसे अधिक सहायता कर सकती हूँ?'' स्वामीजी ने उत्तर दिया था, ''भारतवर्ष से प्यार करो।''

* * * *

स्वामीजी ने एक बार अपने सम्बन्ध में कहा था—''मैं 'condensed India' हूँ—भारतवर्ष का घनीभूत रूप हूँ।'' भारतवर्ष से प्यार करके स्वामीजी स्वयं भारतवर्ष हो गये थे। निवेदिता ने भी वही बात कही है: 'भारतवर्ष स्वामीजी के गम्भीरतम आवेग का केन्द्र था। भारतवर्ष उनके हृदय में धड़कता था। उनकी शिराओं में प्रतिध्वनित होता था। भारतवर्ष उनका दिवास्वप्न था। भारतवर्ष उनके लिए रात का दुःस्वप्न था। केवल यही नहीं, वे स्वयं भारतवर्ष हो गए थे। रक्त, माँस से बनी भारत-प्रतिमा ... भारतवर्ष की आध्यात्मिकता, उसकी पवित्रता, उसकी प्रज्ञा, उसकी शक्ति, उसका स्वप्न एवं उसका भविष्य—वे सभी के प्रतीक पुरुष थे।'

इसलिए स्वामीजी की जीवनी पढ़ने से ऐसा लगता है जैसे भारतवर्ष के गर्व से इतना गर्वित शायद कोई नहीं हुआ हो। भारतवर्ष

की अक्षमता पर ऐसा निर्मम कशाघात भी शायद ही किसी ने किया हो, क्योंकि और किसी ने भारतवर्ष को इतना अपना समझा भी नहीं। माँ जिस तरह सन्तान के सुख-दुःख, भला-बुरा, दुर्बलता, ज़रूरत, खतरा एवं सम्भावना की बातें सन्तान से भी अधिक अच्छी तरह जानती है। ठीक उसी तरह स्वामीजी ने भारतवर्ष को पहचाना था। इसीलिए अतीत, वर्तमान एवं भविष्य भारतवर्ष का हरएक परिपूर्ण चित्र उनकी भावना में था। इसीलिए रवीन्द्रनाथ ने रोमाँ रोलाँ से कहा था, ''यदि भारतवर्ष को जानना चाहते हो तो विवेकानन्द को पढ़ो।''

भारत और उसके पुनरुत्थान के उपाय

स्वामी विवेकानन्द

यदि इस संसार में ऐसा कोई देश है जिसे हम पुण्यभूमि कह सकते हैं, यदि ऐसा कोई स्थान है जहाँ संसार के प्रत्येक जीव को अपना कर्मफल भोगने के लिए आना पड़ेगा, जहाँ ईश्वर की ओर उन्मुख जीवमात्र को अन्त में आना ही पड़ेगा—जहाँ मनुष्य जाति में क्षमा, दया, पवित्रता, शान्तभाव जैसे सद्‌गुणों का सर्वाधिक विकास हुआ है, यदि कोई ऐसा देश है, जहाँ सबसे अधिक आध्यात्मिक और अन्तर्दृष्टि का विकास हुआ है, तो मैं निश्चित होकर कह सकता हूँ कि वह भूमि हमारी मातृभूमि भारतवर्ष ही है।

भारत के इतिहास में ऐसा कोई युग जरा दिखाएँ तो, जब सारे विश्व की आध्यात्मिकता द्वारा परिचालित करने में समर्थ महापुरुषों का अभाव था, परन्तु भारत की कार्य-प्रणाली है आध्यात्मिक—वह कार्य रणभेरी या सैनिक अभियानों से नहीं हो सकता । भारत का प्रभाव धरती पर सर्वदा नीरव शिशिर-पात्र की तरह समस्त विश्व में अनजाने फैला है। परन्तु उसने सर्वदा धरती के सुन्दरतम पुरुषों को विकसित किया है।

हमारी मातृभूमि के प्रति विश्व का ऋण अपरिमित है। जब (ईसाई) धर्म कल्पना में भी उत्पन्न नहीं हुआ था, उसके तीन सौ वर्ष पहले ही हमारा धर्म सुप्रतिष्ठित था। विज्ञान के क्षेत्र में भी यह बात सत्य है। प्राचीन भारत की एक और भेंट है वैज्ञानिक दृष्टिसम्पन्न चिकित्सक दल। सर विलियम हण्टर के अनुसार विभिन्न रासायनिक पदार्थों के आविष्कार और कुरूप कान और नाक के पुनर्गठन के उपाय बताकर

भारतवर्ष ने आधुनिक चिकित्सा विज्ञान को समृद्ध किया है। गणित के क्षेत्र में तो भारत का योगदान और भी उल्लेखनीय है। बीजगणित, ज्यामिति, ज्योतिष-विद्या और आधुनिक विज्ञान की विजयस्वरूप मिश्र गणित, इन सबका जन्म भारतवर्ष में ही हुआ। यहाँ तक कि, वर्तमान सभ्यता की नींव, संख्या दशक, भारत के मनीषियों की ही सृष्टि है। दस संख्यावाचक दशमलव शब्द वास्तव में संस्कृत शब्द है।

दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में अन्य जातियों से हम आगे हैं। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शोपेनहॉवर ने भी यह स्वीकार किया है। संगीत जगत् को भारत ने सात प्रधान स्वर दिये हैं और सुर के तीन तानों के साथ-साथ स्वरलिपि प्रणाली। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में अब यह सर्वस्वीकृत है कि हमारी संस्कृत भाषा समस्त यूरोपीय भाषाओं का आधार है।

साहित्य के क्षेत्र में हमारे काव्य, महाकाव्य और नाटक अन्य किसी भाषा की श्रेष्ठ रचनाओं के समकक्ष हैं। जर्मनी के कवि ने हमारे शकुन्तला नाटक के बारे में संक्षेप में कहा है कि इसमें स्वर्ग और पृथ्वी सम्मिलित हैं। भारत ने संसार को 'ईसप्स फेबल्स' नामक प्रसिद्ध कहानियाँ दी, क्योंकि ईसप ने इन्हें एक पुरानी संस्कृत पुस्तक से लिया था। 'अरेबियन नाईट्स' और 'सिण्ड्रेला' एवं 'बीन स्टाक्स' नामक प्रख्यात कथा साहित्य की उत्पत्ति भी भारत में ही हुई। शिल्पकला के क्षेत्र में भी रुई और लाल रंग का उत्पादन भारत में ही प्रथम हुआ तथा सभी प्रकार के अलंकार-निर्माण में भी इस देश ने विशेष दक्षता दिखाई। चीनी सर्वप्रथम भारत में ही बनी। अंग्रेजी शुगर शब्द की उत्पत्ति संस्कृत शर्करा से हुई। अन्त में यह कहा जा सकता है कि शतरंज, ताश और पाशा के खेलों का आविष्कार भारत में ही हुआ।

वास्तव में भारत की उन्नति इतनी अधिक थी कि भूखे यूरोप निवासी भारत की सीमा पर काफी संख्या में धन पाने की अभिलाषा से

उपस्थित होने लगे। परोक्ष रूप से यही घटना अमेरिका के आविष्कार का कारण बनी।

जब मैं देश के प्राचीन इतिहास की पर्यालोचना करता हूँ तब सारे संसार में मुझे ऐसा कोई देश दिखाई नहीं देता, जिसने भारत के समान हृदय को उन्नत करने के लिए इतना काम किया हो। इसीलिए मैं अपनी जाति की न तो निन्दा करता हूँ और न उसे अपराधी ठहराता हूँ। मैं उनसे कहता हूँ—जो तुमने किया है, अच्छा ही किया है, पर इससे भी अच्छा करने की कोशिश करो।

कुछ विनाश न करो

कुछ भी ध्वंस न करो। विध्वंसकारी संसार का कोई उपकार नहीं कर सकते। कुछ भी तोड़कर धूल में न मिलाओ, वरन् उसका गठन करो। यदि हो सके तो सहायता करो, अन्यथा चुपचाप हाथ उठाकर खड़े रहो और जैसा चल रहा है, चलने दो। यदि सहायता न कर सको तो अनिष्ट न करो ... जो जहाँ पर है, उसे वहीं से ऊपर उठाने की कोशिश करो ... तुम-हम क्या कर सकते हैं? क्या तुम यह समझते हो कि तुम एक शिशु को भी शिक्षा दे सकते हो?—नहीं दे सकते। शिशु स्वयं ही शिक्षा-लाभ करता है। तुम्हारा कर्तव्य है—उसे अवसर देना और बाधा दूर कर देना।

हे भारत के श्रमजीवी !

हे भारत के श्रमजीवीगण ! तुम्हारे नीरव अनवरत निन्दित परिश्रम के फलस्वरूप ही एक के बाद एक बना—बेबिलोन, ईरान, एलक्सेण्ड्रिया, यूनान, रोम, जेनेवा, वेनिस, बगदाद, समरकन्द, स्पेन, पुर्तगाल, फ्रांस, डेनमार्क-डच और अंग्रेजों ने सफलतापूर्वक अपना आधिपत्य और ऐश्वर्य का विकास किया। और तुम? तुम्हारे बारे में चिन्ता करने की परवाह भी

कौन करता है ! लोकजयी, धर्मवीर, रणवीर, काव्यवीर सबके पूज्य हैं, परन्तु जहाँ कोई नहीं देखता, कोई जहाँ शाबाशी नहीं देता, जहाँ सब घृणा करते हैं, जहाँ अपार सहिष्णुता, अनन्त प्रीति तथा निर्भीक कार्यशीलता के साथ हमारे गरीब दिन-रात, घर-बाहर चुपचाप अपना कर्तव्य किये जा रहे हैं—क्या इसमें कोई वीरता नहीं है? महान् कार्य हाथ में आने से बहुतेरे वीर बन जाते हैं, बहुसंख्यक लोगों की शाबाशी पाकर कापुरुष भी सहर्ष अपना प्राण न्योछावर कर देता है, घोर स्वार्थी भी निष्काम हो जाता है; परन्तु अति क्षुद्र कार्य में सबसे अनजान जो व्यक्ति नि:स्वार्थता और कर्तव्य परायणता दिखा सकता है, वही धन्य है, वे हो तुम, भारत के पददलित श्रमजीवी । मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ।

जन-साधारण की उन्नति चाहिए

मुझे लगता है कि हमारा सबसे बड़ा जातीय पाप है, जनसाधारण की उपेक्षा और यही हमारी अवनति का मुख्य कारण है। जबतक भारत के साधारण लोग भली-भाँति शिक्षित नहीं होते, भली-भाँति खा नहीं पाते, जबतक उच्च वर्ग के लोग उनका ठीक से ख्याल नहीं रखते तबतक चाहे कितने ही राजनीतिक आन्दोलन क्यों न हों, कुछ नहीं होनेवाला है ... भारत को यदि पुनर्जीवित करना है तो हमें अवश्य ही उनके लिए काम करना होगा।

अनाथ, दरिद्र, निरक्षर और कृषक-श्रमिक ही हमारे लक्ष्य हैं। पहले उनके लिए काम करने के बाद अगर समय रहा तो कुलीन की बारी आयेगी।

जनसाधारण की दुर्दशा : धर्म उत्तरदायी नहीं

भारत के दरिद्र, भारत के पतित और भारत के पापी का कोई सहायक, साथी नहीं है। वे दिन-ब-दिन डूबते जा रहे हैं ... चिन्तनशील

लोग पिछले कुछ वर्षों से समाज की यह दुर्दशा समझते रहे हैं। परन्तु दुर्भाग्यवश, वे हिन्दूधर्म के ऊपर सारा दोष डाल रहे हैं। वे मानते हैं कि संसार के सर्वश्रेष्ठ धर्म का विनाश ही उन्नति का एकमात्र उपाय है। तुम्हारा धर्म तुम्हें सिखलाता है कि संसार भर के सभी प्राणी तुम्हारी आत्मा के विविध रूप मात्र हैं। समाज की इस दुरवस्था का कारण है इस तत्त्व को व्यावहारिक रूप में न लाना, सहानुभूति का अभाव, और हृदय का अभाव ... समाज की इस अवस्था को दूर करना होगा। धर्म का नाश करके नहीं, परन्तु हिन्दूधर्म की महान् शिक्षा का अनुसरण करके और उसके साथ-साथ हिन्दूधर्म के स्वाभाविक रूप बौद्धधर्म की अपूर्व सहृदयता को जोड़कर।

आधुनिक भारत पहले भारत के धर्म का विनाश किए बिना सुधार का कोई दूसरा उपाय नहीं खोज पाते। उन्होंने प्रयत्न किया है, परन्तु विफल हो गये हैं। इसका क्या कारण है? कारण यह है कि इनमें से बहुत ही कम लोगों ने अपने निजी धर्म का भली-भाँति अध्ययन किया है या चर्चा की है और उनमें से एक भी सब धर्मों की जननी को समझने के लिए, जिस साधना की जरूरत है उस साधना पथ से नहीं गुजरे। मैं दावा कर रहा हूँ कि हिन्दू समाज की उन्नति के लिए धर्म को नष्ट करने की कोई जरूरत नहीं है और यह भी सही नहीं है कि धर्म के कारण ही समाज इस अवस्था में है। बल्कि धर्म को समाज में जिस तरह से काम में लाना चाहिए था, वही नहीं हुआ। इसलिए ही समाज इस अवस्था में है। मैं इस कथन के प्रत्येक शब्द को अपने प्राचीन शास्त्रों से प्रमाणित करने के लिए प्रस्तुत हूँ। मैं यही शिक्षा दिया करता हूँ और कार्य रूप में परिणत करने के लिए हमें जीवन भर प्रयत्न करते रहना होगा।

अतीत को जानना होगा

अतीत से भविष्य का निर्माण होता है। अत: जहाँ तक हो सके

अतीत की ओर देखो, पीछे जो चिरन्तन निर्झर बह रहा है, आकण्ठ उसका जलपान करो और सामने की ओर दृष्टि करके आगे बढ़ो और प्राचीन काल में भारत जिन ऊँचे गौरव पर आरूढ़ था उसे उससे भी अधिक ऊँचा, उज्ज्वल, महान्, एवं महिमामय बनाने की चेष्टा करो।

हमारे पूर्वज महान् थे। हमें पहले यह जानना होगा। समझना होगा कि हम किन उपादानों से बने हैं, और कौन-सा खून हमारी धमनियों में बह रहा है। उसके बाद ... पहले जो था उससे भी एक महान् नये भारत का गठन करना होगा।

जो लोग सदैव अतीत कि ओर देखते हैं, आजकल सभी उनकी निन्दा किया करते हैं। कहा जाता है कि अतीत की ओर अधिक दृष्टिपात ही भारत के समस्त दु:खों का मूल कारण है। मैं इसके विपरीत को ही सत्य मानता हूँ ... हिन्दूगण अपने अतीत की जितनी ज्यादा चर्चा करेंगे उनका भविष्य उतना ही उज्जवलतर होगा और जो भी इस अतीत को लोगों के सामने उपस्थित करेगा वह देश के लिए परम हितकारी होगा। यह सत्य नहीं है कि हमारे पूर्वजों के रीति-रिवाज बुरे थे और इसी कारण भारत की अवनति हुई। बल्कि अवनति का कारण है कि उन रीति-रिवाजों को उनकी न्याय संगत परिणति तक नहीं ले जाने दिया गया।

धर्म पर आघात नहीं

हमारी कार्य-पद्धति का मूल आदर्श सदा याद रखना—धर्म को बिना हानि पहुँचाए जनसाधारण की उन्नति ... क्या तुम साम्य, स्वतन्त्रता, कार्य एवं उत्साह में कट्टर पाश्चात्य हो सकते हो और धर्म, विश्वास तथा साधन में कट्टर सनातनी हिन्दू? यही करना है और हम यही करेंगे। भारत की प्राणशक्ति धर्म में निहित है।

यदि तुम लोग धर्म को केन्द्र में न रखकर, धर्म को जातीय जीवन

की प्राणशक्ति न मानकर, राजनीति, समाजनीति या अन्य कुछ को स्थापित करोगे तो तुम लुप्त हो जाओगे। ऐसा न हो, इसलिए तुम लोगों को हर काम धर्म के माध्यम से करना होगा—जो तुम्हारी प्राणशक्ति है।

अत: भारत में किसी प्रकार का सुधार या उन्नति की कोशिश न की जाये, पहले धर्म की उन्नति की आवश्यकता है। भारत को समाजवादी या राजनीतिक विचारों से प्लावित करने से पहले आध्यात्मिक विचारों द्वारा प्लावित करो। मेरे कहने का यह अर्थ भी नहीं कि राजनीतिक या सामाजिक उन्नति की जरूरत नहीं है। मेरा तात्पर्य यही है और मैं तुम्हें सदा यही याद दिलाना चाहता हूँ कि ये सब गौण हैं, धर्म ही मुख्य विषय है। भारतवासी पहले चाहता है धर्म, फिर और कुछ।

भारत में समाज-संस्कार प्रचार करने के लिए पहले यह दिखाना होगा कि उस नई सुधार-प्रथा से आध्यात्मिक जीवन की उन्नति में कौन-सी विशेष सहायता मिलेगी। राजनीति के प्रचार के लिए भी दिखाना पड़ेगा कि उसके द्वारा हमारे राष्ट्रीय जीवन की मुख्य आकांक्षा आध्यात्मिक उन्नति की कितनी पूर्ति होगी।

क्या केवल धर्म? ... ऐसा नहीं

पहले रोटी और तब फिर धर्म चाहिए, भौतिक समृद्धि भी आवश्यक है। सिर्फ यही नहीं, जरूरत से ज्यादा वस्तुओं का व्यवहार भी आवश्यक है जिससे गरीबों के लिए नये-नये रोजगार मिलते रहें। जो ईश्वर मुझे यहाँ पर रोटी नहीं दे सकता, वही मुझे स्वर्ग में अनन्त सुख देगा, मैं विश्वास नहीं करता। भारत को उठाना होगा, गरीबों को खिलाना, शिक्षा का विस्तार करना होगा और पौरोहित्य के पाप को दूर करना होगा ... प्राचीन धर्म से पौरोहित्य के अत्याचार और अनाचार को उखाड़ फेंक दो। तब देखोगे, यह धर्म ही संसार का सर्वश्रेष्ठ धर्म है।

मेरी बात समझ रहे हो न? भारत का धर्म लेकर यूरोपीयन समाज का निर्माण कर सकते हो? मुझे विश्वास है कि यह सम्भव है और यह अवश्य होगा।

नारी-जागरण

स्त्रियों को पहले उठाना होगा, जनसाधारण को जगाना होगा, तभी तो देश का कल्याण, भारत का कल्याण होगा।

स्त्रियों की पूजा करके ही सभी जातियाँ बड़ी बनी हैं। जिस देश में, जिस जाति में स्त्रियों की पूजा नहीं, वह जाति न कभी बड़ी हुई है और न कभी हो सकेगी।

शिक्षा की विशेष आवश्यकता

हमारे निम्न लोगों के लिए हमारा कर्तव्य है सिर्फ उन्हें शिक्षा देना और उनके खोये हुए व्यक्तित्व को फिर से प्रज्ज्वलित करना ... उन्हें अच्छे-अच्छे भाव देने होंगे। उनके चारों ओर दुनिया में क्या हो रहा है, इस सम्बन्ध में उनकी आँखें खोल देनी होंगी। इसके बाद वे अपना उद्धार खुद कर लेंगे। हर एक जाति, हर एक नर-नारी को अपना उद्धार स्वयं ही करना होगा। उन्हें इतनी ही सहायता की ज़रूरत है। शेष जो कुछ है वह इसके फलस्वरूप खुद ही आयेगा। हमें केवल रासायनिक पदार्थों को एकत्रित करना होगा, उसके बाद रवों का निर्माण तो प्राकृतिक नियमानुसार खुद ही हो जाएगा। हमारा कर्तव्य है उनके दिमाग में कुछ चिन्तनधारा प्रवाहित करना, बाकी वे स्वयं ही कर लेंगे। भारत में यही करना विशेष जरूरी है।

... पहले पूरी जाति को शिक्षा दो, ... समाज सुधार के लिए प्रथम कर्तव्य है जनसाधारण को शिक्षित करना। यह शिक्षा सम्पूर्ण होने तक प्रतीक्षा करनी ही पड़ेगी।

आत्मनिर्भर होने की शिक्षा

जनता को अगर आत्मनिर्भर बनने की शिक्षा न दी जाये, तो भारत के एक छोटे-से गाँव के लिए संसार की सारी दौलत लगा देने से भी वह पर्याप्त नहीं होगी। शिक्षा प्रदान करना ही हमारा प्रधान कार्य होना चाहिए, चरित्र और बौद्धिक विकास के लिए शिक्षा का विस्तार करना चाहिए।

विदेश के साथ लेन-देन

लेन-देन ही संसार का नियम है, और यदि भारत को फिर से उठाना है तो उसे अपनी दौलत के खजाने का द्वार खोलकर संसार की सभी जातियों के बीच बाँट देना होगा एवं इसके बदले में अन्य लोग जो कुछ भी दें, उसे ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत रहना पड़ेगा। विस्तार ही जीवन है—संकीर्णता मृत्यु है। प्रेम है जीवन और द्वेष मृत्यु है। हम लोगों ने जिस दिन से दूसरी जातियों के प्रति घृणा करना प्रारम्भ किया, उसी दिन से हमारे ध्वंस की शुरुआत हो गई और जबतक हम फिर से विस्तार को न अपनायेंगे, तबतक कुछ भी विनाश को रोक नहीं सकता। अतएव हमें संसार की सभी जातियों के साथ मिलना होगा।

विश्व एक सर्वांगीण सभ्यता की अपेक्षा कर रहा है। पूर्वजों से भारत ने जो अनुपम आध्यात्मिक चिन्तन उत्तराधिकारी के रूप में प्राप्त किया है और जिसे अनेक शताब्दियों तक अवनति और दुःख-दुर्दशा के आवर्त में पड़कर भी यत्नपूर्वक अपने हृदय से लगाकर रखा है—संसार उन्हीं रत्नों के लिए व्याकुल है ... अतएव हमें देश के बाहर जाना ही होगा। हमारे अध्यात्म के बदले उनके पास जो देय है, उसे लेना ही होगा। आध्यात्मिक राज्य के अपूर्व तत्त्वों के विनिमय में हम सीखेंगे जड़-जगत् की अद्भुत कार्यनीति। हम लोग सर्वदा शिष्य

बनकर नहीं रहेंगे। हमें गुरु भी होना होगा। समभाव के बिना मित्रता सम्भव नहीं। जबतक एक पक्ष सर्वदा शिक्षक बना रहे और दूसरा पक्ष उनके चरणतल पर शिक्षार्थी बना रहे, तबतक समता नहीं हो सकती। यदि अंग्रेज या अमेरिकी से समता रखने की अभिलाषा है तो तुम्हें उनसे जैसे सीखना होगा, वैसे ही उन्हें सिखाना भी होगा। अब भी संसार को बहु शताब्दियों तक शिक्षा देने की सामग्री तुम्हारे पास पर्याप्त है। भारत को यूरोप से बाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करना सीखना है और यूरोप को भारत से अन्तर्जगत् पर विजय पाना सीखना है। तब हिन्दू और यूरोपियन अलग-अलग नहीं होंगे। तब होगी एक आदर्श मानव जाति जिसने बाहरी और अन्तर्जगत् दोनों पर ही विजय प्राप्त कर ली है। मानव जाति के एक पहलू का विकास हमने किया है, और उन्होंने दूसरे का। आवश्यकता है दोनों के सम्मिलन की।

भारतीय धारा में ही नया भारत गठित होगा

हम लोगों को अपनी प्रकृति के अनुसार उन्नति करने की कोशिश करनी होगी। विदेशी संस्थायें हमें जिस प्रणाली में चलने को मजबूर करने की कोशिश कर रही हैं उसके अनुसार काम करने की चेष्टा व्यर्थ है। मैं दूसरी जातियों की सामाजिक प्रथाओं की निन्दा नहीं कर रहा हूँ। वे उनके लिए ठीक होने से भी हमारे लिए नहीं हैं। जो उनके लिए अमृत है, वह हमारे लिए विष समान हो सकता है। पहले इसे समझना होगा। उनकी वर्तमान सामाजिक प्रथा एक अन्य प्रकार का परम्परागत संस्कार और आचारों से गठित हुई है। हमारे पीछे और एक प्रकार का परम्परागत संस्कार और हजारों वर्षों के कर्म हैं। स्वाभाविक रूप से हम लोग अपनी प्रकृति के अनुसार अपने निजी रास्ते पर ही चल सकते हैं और हमको ऐसा ही करना होगा।

देश-निर्माण के कर्णधारों के प्रति

देशभक्त बनो—उस जाति से प्रेम करो जिस जाति ने अतीत में हमारे लिए इतने बड़े-बड़े काम किये हैं।

हे वीर-हृदय युवकवृन्द ! और किसी बात की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है केवल प्रेम, सरलता और धैर्य की। जीवन का अर्थ है विस्तार, विस्तार और प्रेम एक ही है। इसलिए प्रेम ही जीवन है, प्रेम ही जीवन का एकमात्र गति निर्धारक है। स्वार्थपरता ही मृत्यु है, जीवन रहते हुए भी यह मौत है, देहावसान में भी यही स्वार्थपरता मृत्युस्वरूप है ... जितने भी नर-पशु तुम देखते हो, उसमें नब्बे प्रतिशत है मृत, प्रेततुल्य, क्योंकि हे युवकवृन्द ! जिसके हृदय में प्रेम नहीं, वह मृत के अलावा और क्या हो सकता है? हे युवकगण ! तुम दरिद्र, मूर्ख एवं पददलित मनुष्य की पीड़ा को अपने हृदय से अनुभव करो, उस अनुभव की वेदना से तुम्हारे हृदय की धड़कन रुक जाये, सिर चकराने लगे और तुम पागल होने लगो, तब जाकर ईश्वर के चरणों में अपने अन्तर की वेदना बताओ। तब ही तुम्हें उनसे शक्ति एवं सहायता मिलेगी—अदम्य उत्साह, अनन्त शक्ति मिलेगी। पिछले दस सालों में मेरा मूल मन्त्र था—आगे चलो ! तब चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार के सिवाय कुछ नहीं देख पाता था, तब भी कहा था—आगे बढ़ो ! अब थोड़ा उजाला दिखाई पड़ रहा है तब भी कह रहा हूँ—आगे बढ़ो ! डरो मत बच्चो ! अनन्त नक्षत्रखचित आकाश की ओर भयभीत दृष्टि से मत देखो, जैसे कि वह तुम्हें कुचल डालेंगे। धीरज धरो, देखोगे—कुछ ही समय के बाद सब कुछ तुम्हारे पैरों तले आ गया है। न धन से काम होता है, न नाम-यश से होता है। विद्या से भी नहीं होता, प्रेम से होता है—चरित्र ही बाधा-विघ्न की वज्र कठोर दीवारों के बीच से रास्ता बना सकता है।

महान् बनने के लिए कोई भी जाति या व्यक्ति में तीन वस्तुओं की आवश्यकता है।

सदाचार की शक्ति में विश्वास,

ईर्ष्या और सन्देह का परित्याग एवं

जो सदाचारी बनने या अच्छा कार्य करने की कोशिश करता है, उनकी सहायता करना।

कार्य की सामान्य शुरुआत देखकर घबराओ मत, कार्य सामान्य से ही महान् होता है। साहस रखो। सेवा करो, नेता बनने की कोशिश मत करो। नेता बनने की पाशविक प्रवृत्ति ने जीवनरूपी समुद्र में अनेक बड़े-बड़े जहाजों को डुबो दिया है। इस विषय में सावधान रहो। अर्थात् मृत्यु को भी तुच्छ मानकर नि:स्वार्थी बनो और काम करते रहो।

हे वीर हृदय युवको ! यह विश्वास रखो कि तुम्हारा जन्म बड़े-बड़े काम करने के लिए हुआ है। कुत्तों के भौंकने से न डरो—यहाँ तक कि आसमान से वज्रपात होने से न घबराना—उठ खड़े हो जाओ और काम करो।

विश्व के इतिहास में क्या कभी ऐसा देखा गया है कि धनवानों द्वारा कोई महान् कार्य सिद्ध हुआ है? हृदय और दिमाग से ही हमेशा सब बड़े काम किये जाते हैं-धन से नहीं।

रुपये-पैसे सब अपने-आप आते रहेंगे। आवश्यकता है मनुष्यों की, धन की नहीं। मनुष्य सबकुछ करता है, रुपया क्या कर सकता है? मनुष्य चाहिए—जितने मिले उतना ही अच्छा है।

संसार की सब सम्पदाओं से मनुष्य कहीं अधिक मूल्यवान है। हे वीर हृदय बालकगण ! आगे बढ़ो ! धन रहे या न रहे, लोगों की सहायता मिले या न मिले, तुम्हारे पास तो प्रेम है न ! भगवान तो तुम्हारा सहारा है न? आगे बढ़ो, कोई तुम्हारी गति रोक नहीं पाएगा। लोग चाहे कुछ भी क्यों न सोचें, तुम कभी अपनी पवित्रता, नैतिकता

तथा भगवत्प्रेम का आदर्श छोटा न करना ... जिसे ईश्वर से प्रेम है उसके लिए शठता से घबराने का कोई कारण नहीं है। पवित्रता ही पृथ्वी और स्वर्ग में सबसे महत् दिव्य शक्ति है।

गणमान्य, उच्चपदस्थ और धनवानों पर कोई भरोसा न रखो। उनके अन्दर कोई जीवन शक्ति नहीं है। एक तरह से उनको मृतकल्प कहा जा सकता है। भरोसा तुम्हारे ऊपर ही है। जो पदमर्यादाविहीन गरीब किन्तु विश्वास परायण हैं ... हम धनी और बड़े लोगों की परवाह नहीं करते। विश्वास ! विश्वास !! सहानुभूति, अग्निमय विश्वास ! ज्वलन्त सहानुभूति चाहिए। जय प्रभु ! जय प्रभु !! जीवन तुच्छ है, तुच्छ है मरण, भूख तुच्छ है, तुच्छ है शीत भी। प्रभु की जय हो। आगे बढ़ो ! प्रभु ही हमारे नेता हैं। पीछे मत देखो। कौन गिरा, पीछे मत देखो, आगे बढ़ते चलो। हम ऐसे ही आगे बढ़ेंगे—एक गिरा तो दूसरा उसका स्थान लेगा।

ईश्वर के पास प्रार्थना करता हूँ कि मेरे अन्दर जो आग जल रही है वह तुम्हारे अन्दर भी जल उठे। तुम्हारे मन और मुख एक हों, तुम लोग अत्यन्त निष्कपट बनो। तुम लोग संसार के रणक्षेत्र में वीरगति को प्राप्त करो—विवेकानन्द की यही निरन्तर प्रार्थना है।

जाग उठी है मातृभूमि !

क्या भारत मर जायेगा? तब समस्त संसार से सारी आध्यात्मिकता दूर हो जाएगी, सब नैतिक मूल्यबोध लुप्त हो जायेंगे, धर्म के प्रति समस्त मधुर सहानुभूति की भावना भी चली जाएगी, सब प्रकार के आदर्शवाद विनष्ट हो जाएँगे। उनके स्थान पर काम और विलासिता दोनों देव-देवी के रूप में राज करेंगे। उस पूजा में धन होगा पुरोहित, प्रताड़ना, पाशविक बल और प्रतिद्वन्द्विता होगी पूजा-पद्धति और मानवता होगी उसमें—सामग्री। यह कभी नहीं हो सकता। क्रियाशक्ति से सहनशक्ति

हजारों गुणा बड़ी होती है। प्रेम का बल घृणा के बल की अपेक्षा अनन्त गुणा अधिक होता है।

प्राचीन काल में बहुत-सी चीज़ें अच्छी भी थीं और बुरी भी। उत्तम वस्तुओं की रक्षा करनी होगी। परन्तु जो भारत आ रहा है—भावी भारत प्राचीन भारत की अपेक्षा अधिक महान् होगा।

भारत का पुनरुत्थान होगा। जड़ की शक्ति से नहीं, चेतना की शक्ति से। विनाश का विजयध्वज लेकर नहीं, बल्कि शान्ति और प्रेम के ध्वज फैलाकर संन्यासियों के गेरुआ वस्त्र का सहारा लेकर, अर्थशक्ति से नहीं, बल्कि भिक्षापात्र की शक्ति से सम्पादित होगा ... मैं मानो अपनी दिव्यदृष्टि से देख रहा हूँ—हमारी मातृभूमि फिर जाग उठी है—नव-जीवन लाभ करके पहले से भी अधिक गौरवमय मूर्ति धारणकर अपने सिंहासन पर आरूढ़ होकर। इस बार का केन्द्र भारतवर्ष ही है। ...

१८९३ की विश्व-धर्म महासभा में स्वामी विवेकानन्द

एक सौ वर्ष पूर्व, ११ सितम्बर १८९३ ई. की दोपहर को संसार की सर्वप्रथम विश्व-धर्म महासभा में अमेरिका के करीब ४,००० सुधी श्रोतागण के सम्मुख जब स्वामी विवेकानन्द भाषण देने हेतु खड़े हुए, तो उन श्रोताओं को यह ज्ञात भी न था कि वे एक ऐतिहासिक क्षण के साक्षी हैं।

उस देश में स्वामीजी एक फ़क़ीर, अनजान एवं मित्रहीन संन्यासी थे। वे उस मंच पर आसीन वक्ताओं के समान न थे, अपितु उन्हें इस धर्म-महासभा में प्रवेश हेतु विचित्र परिस्थितियों में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। और फिर, इतने विशाल जनसमुदाय के सामने बोलने का उनका यह पहला ही अवसर था। तथापि, उन्होंने विजय हासिल की। अपनी प्रथम वक्तृता से ही उन्होंने श्रोताओं के मन जीत लिये और रात भर में प्रसिद्धि हासिल कर ली। ऐसी अभूतपूर्व सफलता शायद ही किसी को मिली हो।

परन्तु इस आश्चर्यजनक कहानी में अग्रसर होने, और फिर उसके बाद की घटनाओं का उल्लेख करने के पहले, आइये, इसके पूर्व की बातों का अनुस्मरण करें जो कि समान महत्व रखती हैं।

श्रीरामकृष्ण

भारतीय इतिहास का विद्यार्थी इस देश की सहन करने की क्षमता को देखकर चकित हुए बिना नहीं रह सकता। विदेशी आक्रमण के समक्ष भारतवर्ष अधिकांशत: कमजोर एवं निष्क्रिय तक होता देखा गया है। उसने इन अत्याचारों को नष्टप्राय होने की सीमा तक चुपचाप सहन

किया है। परन्तु मानो किसी जादुई शक्ति के द्वारा वह पुनरुज्जीवित हो उठा। इतना ही नहीं, उसने अपने विजेता देश को प्रेम के ऐसे सूत्र से बाँध रखा कि वह इस देश से घुलमिल गया एवं कभी अपने को पराया महसूस ही नहीं किया। स्वीकार करने तथा सहन करने की यह अद्‌भुत क्षमता ही भारतवर्ष की शक्ति है। यह क्षमता उसे उसकी आध्यात्मिकता से प्राप्त होती है, जो उसकी जीवनी शक्ति है, जिसका विश्वास और शिक्षा है कि इस पूरे विश्व-ब्रह्माण्ड के मानवों में वही एक दिव्यता व्याप्त है जिसे धर्म, राष्ट्रीयता और जाति के भेद बाधित नहीं कर सकते।

इस विशेष योग्यता के अनुबन्ध के तहत, इस देश के पूरे इतिहास में सदा से ही आध्यात्मिक विभूतियाँ जन्म लेती रही हैं। जब भी उसके अस्तित्व का प्रश्न खड़ा हो जाता है, तब वह अपने बचाव के लिए किसी सम्राट् या विद्वान् की मुखापेक्षी नहीं होता, अपितु किसी आध्यात्मिक पुरुष का मुँह निहारा करता है। दुविधा की प्रत्येक घड़ी में ऐसे आध्यात्मिक दिव्य पुरुषों का आविर्भाव भी अवश्य ही होता है।

देश के उन सभी आक्रमणकारियों में अंग्रेज लोग विशेष महत्व रखते हैं क्योंकि इन लोगों ने केवल सैनिक आक्रमण ही नहीं किया, अपितु सांस्कृतिक रूप से भी अपना वर्चस्व सिद्ध किया। अंग्रेजों ने यह प्रयत्न किया और वे कुछ हद तक सफल भी हुए यह बताने के लिए कि भारतवर्ष के पास कोई संस्कृति नहीं है और वे ही इस देश को संस्कृति प्रदान करने वाले हैं। अधिकांशत: इस देश के शिक्षित युवावर्ग ने इस दृष्टिकोण को सही माना और सभी कुछ जो भारतीय था, उसको वे हेय दृष्टि से देखा करते। इसके परिणामस्वरूप सनातनी भारतीय और भी रूढ़िवादी हो गये। वे विश्लेषण किए बगैर केवल भारतीयता से चिपक गए और जो कुछ भी पाश्चात्य था, उसका उन्होंने स्पष्टत: बहिष्कार किया। कुछ लोग ऐसे भी थे जो पाश्चात्य पोशाक में भारतीय

रहना पसन्द करते थे। उनका यह विचार था कि वे केवल नाम मात्र के लिए भारतीय रहेंगे, पर भीतर से पाश्चात्य रहना ही पसन्द करेंगे। सारे देश में एक भ्रमात्मक परिस्थिति विद्यमान थी और ईसाई मिशनरियों ने इसका भरपूर फायदा उठाया और अनेकों भारतीयों को ईसाई धर्म में परिवर्तित किया।

घटनाओं की इन पृष्ठभूमि में, इस देश में श्रीरामकृष्ण का आविर्भाव हुआ—एक दरिद्र, अनपढ़ मन्दिर के पुजारी के रूप में। उन्होंने इस रूप में ही आना पसन्द किया मानो दर्शा रहे हों कि समस्त धन-दौलत और तथाकथित शिक्षा कितनी व्यर्थ है। वे केवल ईश्वर को ही चाहते थे जो उनके लिए एकमात्र सत्य था जैसा यह विश्व-जगत् अन्य लोगों के लिए सत्य होता है। उन्होंने इसी ईश्वर को सभी धर्मों का एकमात्र लक्ष्य भी बताया।

उन्होंने सभी धर्मों की आध्यात्मिक साधनाएँ कर उन-उन धर्मों के अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति की एवं तत्पश्चात् उन्हें इस आध्यात्मिक आनन्द को दूसरों के साथ बाँटने की दिव्य प्रेरणा मिली। शक्तिशाली नवयुवकों का एक दल उनके इर्द-गिर्द एकत्रित हुआ, जिनमें अधिकांशतः उनके इस मिशन में अपना जीवन तक न्योछावर कर देने हेतु कटिबद्ध हुए। श्रीरामकृष्ण इन नवयुवकों से अत्यन्त प्रेम करते थे, क्योंकि ये युवकगण निष्ठावान, पवित्र एवं सत्य के लिए सर्वस्व का त्याग करने के लिए तैयार थे। वे सब संन्यासी बनने को तत्पर थे एवं श्रीरामकृष्ण ने उन लोगों को संन्यस्त जीवन के लिए प्रशिक्षित किया। इन सबमें नरेन्दनाथ दत्त सबसे प्रतिभावान थे, जो परवर्ती काल में स्वामी विवेकानन्द के नाम से विख्यात हुए। श्रीरामकृष्ण ने इन्हें नवीन संन्यासियों का नेता चुना एवं स्वयं की अनुपस्थिति में नरेन्दनाथ को इस दायित्व को वहन करने हेतु बड़े यत्नपूर्वक अपने साँचे में ढाला।

स्वामी विवेकानन्द परिव्राजक के रूप में

श्रीरामकृष्ण अगस्त १८८६ को चल बसे। नवीन संन्यासियों का जो दल श्रीरामकृष्ण के इर्द-गिर्द गठित हुआ था, उनकी मृत्यु के पश्चात् मानो टूटने-सा लगा। परन्तु उनके नेता, स्वामी विवेकानन्द ने हिम्मत नहीं हारी। वे जानते थे कि ये नवीन संन्यासीगण ही पृथ्वी के ऐसे बहूमूल्य रत्न हैं, जिनका व्यर्थ होना सम्भव ही नहीं। उन्हें एक संस्था में संघबद्ध करना ही पड़ेगा तथा उनके गुरुदेव की आज्ञानुसार इन लोगों को मानवता के कल्याणार्थ कर्म करने ही पड़ेंगे। वराहनगर में एक जीर्ण भवन को किराये पर लिया गया जो रामकृष्ण मिशन का सर्वप्रथम मठ बना। श्रीरामकृष्ण के युवा शिष्यों ने औपचारिक रूप से संन्यास ग्रहणकर यहाँ एक साथ रहना आरम्भ किया। ईश्वर-लाभ करना तथा ईश्वर की प्रतिमूर्ति मानव मात्र की सेवा करना ही उनका आदर्श था।

भारतीय संन्यास की सनातन प्रथा के अनुसार श्रीरामकृष्ण के संन्यासी शिष्य यदा-कदा मठ छोड़कर परिव्राजक का जीवन भी अंगीकार करते थे। इसमें स्वामी विवेकानन्द भी कोई अपवाद न थे। परन्तु प्रारम्भ में मठ को संगठित करने के लिए कुछ समय तक उन्हें वहीं पर रहना पड़ा था। परन्तु अन्ततः, वे भी ईश्वरालम्बित हो, एक दरिद्र संन्यासी की भाँति परिव्राजक होकर मठ से निकल ही पड़े। परिव्रजन के ये दिन उनके जीवन में उन दिनों से कुछ कम महत्वपूर्ण न थे, जब वे अपने गुरुदेव के चरणतले शिक्षा ग्रहण किया करते थे। भगिनी निवेदिता के अनुसार, गुरुदेव और जन्मभूमि के साथ-साथ शास्त्राध्ययन ने ही स्वामी विवेकानन्द को निखारा था। इसीलिए भारतवर्ष में इसी परिव्रजन अवस्था ने ही सच्चे विवेकानन्द को बनाने का कार्य सम्पन्न किया था। इसमें वे सभी वर्गों के लोगों के सम्पर्क में आए थे—धनी तथा दरिद्र, ब्राह्मण और निम्न जाति के लोग, विद्वान् एवं मूर्ख, राजा और भिखारी इत्यादि। उन्होंने भारत के साथ स्वयं अपनी भी खोज की। उन्होंने पाया

कि उनकी मातृभूमि आध्यात्मिकता से स्पन्दित है, परन्तु भौतिक समृद्धि में मृतप्राय है। दरिद्रता और अत्याचार चारों ओर फैला हुआ था। अज्ञान और अन्धविश्वास का सर्वत्र साम्राज्य व्याप्त था। जनसाधारण पर अत्याचार की हद हो रही थी। उन्हें यह विश्वास दिलाया जा रहा था कि वे कुछ भी नहीं हैं। स्वामीजी ने अनुभव किया कि असली समस्या आध्यात्मिकता की कमी नहीं है, वरन् दारिद्र्य है। दरअसल, यह दारिद्र्य ही आध्यात्मिकता के लिए खतरनाक सिद्ध हो रहा था। एक दरिद्र, भूखा मनुष्य तो भौतिकवादी होता ही है, क्योंकि उसके लिए रोटी ही भगवान होती है। स्वामीजी को लगा कि आध्यात्मिकता को फैलाने के लिए भी इस दरिद्रता को दूर करना ही होगा। और यदि इस देश में किसी धर्म को प्रचार करना पड़े, तो उस धर्म को यह सिखाना पड़ेगा कि ईश्वर के साथ मनुष्य के प्रति संवेदनशील होना भी उतना ही आवश्यक है।

इन सबके साथ, देश में सर्वत्र आत्मसम्मान का पूरा अभाव था। ईसाई मिशनरियों में हमारे धर्म और संस्कृति के विषय में अनेक भ्रान्त धारणाएँ प्रचलित कर दी थीं जिसे शिक्षित देशवासियों ने पचा भी लिया था। परन्तु स्वामीजी के लिए यह सब चुपचाप स्वीकार करना असम्भव था। वे कर भी कैसे सकते थे? क्या यह सत्य नहीं था कि उन्होंने अपने पूज्य गुरुदेव में अपने धर्म और संस्कृति को मूर्तिमान देखा था? इसके अलावा, वे संन्यासी होने के साथ-साथ एक देशभक्त भी कम न थे। अन्य लोग चुप रह सकते थे, परन्तु वे नहीं। वे अपनी मातृभूमि की प्रतिष्ठा को गिरने नहीं दे सकते थे, जो कि सचमुच ही इसकी हकदार नहीं थी। उन्होंने अपनी मातृभूमि के गौरव को पुन: ऊँचा उठाने और उसके दु:खों को दूर करने का संकल्प किया और अपने परिव्राजक जीवन में उन्होंने देखा कि ऐसा करने की शक्ति उनमें विद्यमान है। केवल शुभ समय का इन्तज़ार करना था।

इसी दौरान, भारत में यह खबर पहुँची कि कोलम्बस के अमेरिका की खोज की ४००वीं शताब्दी मनाने के उपलक्ष्य में अमेरिका में एक विश्व-धर्म महासभा का आयोजन होने जा रहा है। अपनी यात्रा के दौरान, स्वामीजी जहाँ-जहाँ भी गए, वहाँ-वहाँ उन्होंने अपनी विद्वत्ता और वाद-विवाद के अपने असाधारण कौशल की वजह से सबका सम्मान पाया। उनकी इस अद्भुत प्रतिभा से स्तब्ध हो, अनेकों ने उनसे कहा कि आपको पाश्चात्य देशों में जाना चाहिए। परन्तु स्वामीजी ने इसपर विशेष ध्यान नहीं दिया। अब जबकि विश्व-धर्म महासभा का समाचार भारत में आने लगा, तो उन्होंने भी इस विषय पर पुनर्विचार किया। उनके प्रशंसक, विशेषकर मद्रास के नवयुवकगण उन्हें इस विषय में आग्रह करने लगे। परन्तु स्वामीजी १८९२ के अन्त तक किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सके, जब वे कन्याकुमारी पहुँचे, तो भारत के दक्षिणतम छोर पर स्थित एक चट्टान पर तीन दिनों तक लगातार ध्यान एवं समाधि में निमग्न रहे। ध्यान में उन्होंने भारत के सम्पूर्ण रूप का साक्षात्कार किया। उसका गौरवमय इतिहास, वर्तमान पतनावस्था, भविष्य की सम्भावनाएँ और इन सबमें भारत को गढ़ने में उनका अपना योगदान—यह सब उनके समक्ष स्पष्ट हो उठा। उन्हें अनुभूति हुई कि भारत पुनरुज्जीवित होगा, जैसे पहले भी हुआ है और जगत् को अपनी आध्यात्मिक सम्पदा प्रदान करेगा। परन्तु इसके पहले, भारतवर्ष को दूसरों से यह जानना होगा कि उसे अपनी दरिद्रता किस तरह दूर कर समृद्धि कैसे प्राप्त करनी होगी। उन्होंने निश्चय किया वे पश्चिम देशों में जाएँगे, यह देखने के लिए कि उनका विज्ञान और तकनीकी शिक्षा के पास भारत के दारुण दु:ख-दारिद्र्य को दूर करने का कोई उपाय है या नहीं। इसके बदले में, वे विश्व को अपनी मातृभूमि के पास छिपे आध्यात्मिक खजाने के बारे में दर्शाना चाहते थे।

मद्रास में उनके शिष्यों ने उनकी विदेश यात्रा के लिए कुछ धन

एकत्रित किया था। यह उन्होंने घर-घर जाकर जमाया था। परन्तु स्वामीजी ने उस धन को गरीबों में वितरित करने के लिए अपने शिष्यों से कह दिया क्योंकि उनका कहना था कि अभी तक उन्हें दैवी आदेश प्राप्त नहीं हुआ है। एक संन्यासी को कुछ ऐसा नहीं करना चाहिए जिसे उसकी बुद्धि निर्देशित करती है। वे इस हेतु ईश्वरीय आदेश चाहते थे, जो उन्हें अर्धबाह्य अवस्था में प्राप्त हुआ—उन्होंने देखा कि श्रीरामकृष्ण समुद्र के ऊपर से जा रहे हैं और स्वामीजी को अनुसरण करने के लिए कह रहे हैं। श्रीमाँ सारदादेवी ने भी अपने आशीर्वाद के साथ उन्हें इस विषय में एक पत्र लिखकर अपनी सम्मति जताई। अब उनके पास अपनी बुद्धि की सम्मति के साथ ईश्वरीय आदेश भी विद्यमान था और पाश्चात्य देशों की ओर रवाना होने में कोई हिचकिचाहट न थी।

उनके मद्रासी शिष्यों और खेतड़ी के राजा ने यात्रा का खर्च और अमेरिका हेतु उनका सब खर्च वहन किया। सभी प्रकार के प्रबन्ध किये गये। स्वामीजी ने ३१जुलाई को बम्बई से प्रस्थान किया। अपनी यात्रा शुरू करने के कुछ दिनों पहले स्वामीजी ने अपने एक गुरुभाई से कहा था, "विश्व-धर्म महासभा इसी के (अपनी ओर इंगित करते हुए) लिए हो रही है। मेरा मन मुझसे ऐसा कहता है।"

स्वामीजी के समय का अमेरिका

आइये, उस देश की ओर दृष्टिपात करें जो स्वामीजी का स्वागत करनेवाला था। भारतवर्ष अमेरिका की उत्पत्ति के साथ ही जुड़ित है : कोलम्बस ने भारत आने के लिए छोटे मार्ग की तलाश करते-करते अमेरिका की ही खोज कर ली। भारत के समकक्ष प्रमाण में न भी सही, परन्तु अमेरिका के औपनिवेशिक इतिहास के आरम्भ से ही धर्म ने वहाँ एक महत्वपूर्ण भूमिका निबाही है। नवम्बर १६२० ई. में जो यात्रीगण केप कोड ('मेफ्लॉवर' पर) की बंजर भूमि पर आए थे, वे अंग्रेज थे,

जिन्होंने इंग्लैण्ड को पूजा की स्वतन्त्रता हेतु छोड़ा था। वे लोग वर्तमान अंग्रेजों के पूर्वज थे, जो दो शताब्दियों के बाद (स्वामीजी के समयकाल में), अमेरिका के बौद्धिक तथा आध्यात्मिक संस्कृति के नेता सिद्ध हुए।

'बिल ऑफ राइट्स' तथा अमेरिकन संविधान दोनों ही पर पवित्र बाइबिल का प्रभाव पड़ा था। ईश्वर का पितृत्व और मनुष्य का भ्रातृत्व के भावादर्श ने देश के राजनीतिक दर्शन पर अपना प्रभाव जमाया जिसके तहत ईश्वर, राष्ट्र और समाज में सभी मनुष्य की समानता घोषित की गई। समानता, स्वतन्त्रता, न्याय और नैतिक मूल्यों को ऊँचा स्थान मिला। भारतीय विचारधारा अमेरिका में बिल्कुल अनजान भी न थी। अमेरिका में 'ट्रान्सन्डेण्टल मूवमेण्ट' के प्रणेता श्री इमरशन भारतीय रहस्यवाद से बड़े प्रभावित थे। वे उपनिषद् और गीता के सच्चे शिष्य थे, तथा उनके लेखों में वे भावनाएँ ध्वनित होती हैं जो साधारणतया भारतीय आध्यात्मिक परम्परा की प्रतीक हैं। इसी सन्दर्भ में थोरो का नाम लिया जा सकता है जो इमरशन के सहयोगी थे और अपने समय के एक बड़े चिन्तक थे। उन्हें गीता और उपनिषदों से अपार प्रेम था, और उनकी यह धारणा थी कि समकालीन विश्व एवं उसका साहित्य गीता और उपनिषदों के उदात्त सन्देशों की तुलना में तुच्छ एवं बौना है। १८१९ और १८९२ के मध्य के काल में हुए वाल्ट विटमेन वैदिक आदर्शों से अत्यन्त प्रभावित हुए थे जिसका प्रमाण उनके साहित्य में पाया जाता है।

थोरो और इमरशन ने प्राच्य और पाश्चात्य के सम्मिलन का स्वप्न देखा था, जो पूरा नहीं हुआ क्योंकि विज्ञान और तकनीकी प्रगति ने लोगों के दृष्टिकोण में ही परिवर्तन ला दिया जिसके तहत सब भौतिक समृद्धि ही चाहने लगे। इसके अलावा, डार्विन के 'क्रमविकास का सिद्धान्त' के कारण, बाइबिल के अनुसार मनुष्य की सृष्टि के सिद्धान्त पर से लोगों का विश्वास ही उठ गया और इसके साथ-ही-साथ धार्मिक

सभी कुछ पर से भी लोगों की आस्था मिट गई। वैचारिक हर क्षेत्र में ही इस बात को अनुभूत किया गया तथा रहस्यवाद के स्थान पर अनुभववाद, यान्त्रिकीवाद और उपयोगितावाद ने अपना वर्चस्व साबित किया। अपने अस्तित्व के संघर्ष के मध्य अमेरिका के पास जो आध्यात्मिकता धरोहर के रूप में थी, उसको कोई महत्व नहीं दिया गया जबकि वह राष्ट्र समृद्धि को प्राप्त हो रहा था।

अमेरिकावासियों के मन से उसका अन्तर्निहित आदर्श नष्ट नहीं हो पाया। वह मानो राख के भीतर शोलों की भाँति ढका रहा। विचारवान् अमेरिकी सदा से ही उस दर्शन के लिये लालायित रहे जिसका वैज्ञानिक पद्धतियों से कोई विरोध न हो, परन्तु साथ-ही-साथ मनुष्य को आध्यात्मिक बनाए। जो मानव को भौतिक रूप से समृद्ध होने से न रोके, बल्कि समृद्ध होने हेतु नैतिक मूल्यों में वृद्धि कराए जिसका आधार तर्क पर भी होना चाहिए। परन्तु उसके साथ ही मानव को रहस्यवाद के अभिमुख भी कर दे।

दूसरे शब्दों में, धर्म और विज्ञान के समन्वय की आवश्यकता थी और यही 'प्राच्य और पाश्चात्य की सम्मिलनभूमि' भी थी। और प्राच्य और पाश्चात्य दोनों ने ही अनजाने में उस ईश्वरीय विधान के यन्त्रस्वरूप हो, इस हेतु योगदान दिया था। पाश्चात्य ने विश्व-धर्म महासभा का आयोजन कर और प्राच्य ने अपने सबसे होनहार ज्ञानी पुत्र को भेजकर इस दिव्य योजना में सहभाग किया था।

शिकागो में स्वामी विवेकानन्द

यात्रा में दो माह व्यतीत कर, स्वामीजी ३० जुलाई, १८९३ को शिकागो पहुँचे। दो हृदयविदारक सूचनाएँ स्वामीजी की अपेक्षा कर रही थीं। एक तो यह कि धर्म महासभा में स्वामीजी का प्रवेश करने का अब कोई उपाय नहीं था क्योंकि किसी हिन्दू सम्प्रदाय-विशेष का उन्हें

प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं था; दूसरी यह कि शिकागो शहर इतना खर्चीला था जो उनकी सीमित धन-पूँजी वहन कर सके। परन्तु उन्होंने हिम्मत न हारी। दो सप्ताह शिकागो में रहने के बाद उन्होंने कम खर्चीले शहर बोस्टन की ओर प्रस्थान किया।

बोस्टन में स्वामीजी सुश्री केट सेनबॉर्न के अतिथि हुए। वे अधेड़ उम्र की, एक धनी एवं प्रभावशाली महिला थीं। कनाडा से शिकागो आते वक्त स्वामीजी से उनकी मुलाक़ात रेलगाड़ी में हुई थी। स्वामीजी के व्यक्तित्व से अत्यन्त प्रभावित होकर उन महिला ने स्वामीजी से कभी-भी बोस्टन आने पर, उनके उद्यान-भवन में अतिथि होने का आग्रह किया था। जब स्वामीजी बोस्टन आए, तो उनके पास उन महिला के घर अतिथि बनने के अतिरिक्त कोई और पर्याय नहीं बचा था क्योंकि जो भी रुपये उन्हें भारत से मिले थे, वे शेषप्राय हो गए थे और वे किसी होटल में रहने में समर्थ भी न थे। स्वामीजी ने परवर्ती काल में मद्रास के एक शिष्य को लिखा था कि उन महिला का भी कोई विशेष प्रयोजन न था, केवल इतना ही कि—उन्हें 'भारत के एक अजूबे' को लोगों को दिखाना था और मेरा इतना ही स्वार्थ था कि खर्चा बच रहा था। यह पत्र यही दर्शाता था कि स्वामीजी इन सभी अनिश्चितताओं के मध्य भी पूर्णतया ईश्वर ही निर्भर थे। उन्होंने लिखा है : 'मैं यहाँ मेरी के बच्चों के मध्य रह रहा हूँ और प्रभु ईसा मसीह मेरी सहायता करेंगे।' देशवासियों के लिए उनकी चिन्ता सदैव रहा करती थी। उसी पत्र में वे लिखते हैं : 'मेरा हृदय यह सोचते हुए व्यथित होता रहता है कि हम अपने देश के गरीबों और निम्न वर्ग के लोगों के लिए क्या सोचते हैं। उनके लिए कोई सुअवसर नहीं, कोई रक्षा नहीं, किसी भी तरह ऊँचा उठने की कोई आशा नहीं ... दिन-प्रतिदिन वे नीचे गिरे जा रहे हैं ... इस धरती पर न तो हिन्दूधर्म के समान मानवता की उत्कृष्टता का दिग्दर्शन करानेवाला धर्म नहीं है, और न इस धरती पर अन्य कोई

धर्म, हिन्दुओं की अपेक्षा गरीबों एवं दरिद्रों का इस तरह गला घोंटना ही सिखाता है। ...'

यद्यपि धर्म महासभा में प्रवेश पाने की सभी सम्भावनाएँ मानो समाप्त हो गयी थीं, तथापि उन्हें यह आशा थी वे अमेरिका में अपना कार्य अवश्य ही कर पाएँगे। वे इसी की सम्भावनाएँ खोजने का प्रयास करने लगे। उन्होंने उसी पत्र में लिखा है : 'यदि तुम मुझे यहाँ ६ महीने भी रख सको, तो मैं आशा करता हूँ कि सब ठीक हो जाएगा। इस दौरान मैं अपना तख्ता ढूढ़ने का भरसक प्रयास कर रहा हूँ जिसपर मैं तैर सकूँ ... पहले मैं अमेरिका में कोशिश करूँगा, और यदि मैं असफल रहा, तो इंग्लैण्ड जाऊँगा; और वहाँ भी असफल हुआ, तो वापिस भारत चला जाऊँगा और ऊपर से दिव्य आदेश आने तक प्रतीक्षा करता रहूँगा।'

परन्तु ईश्वर की अपनी ही एक योजना थी। स्वामीजी को मेहमान रखनेवाली इन महिला के कारण ही उनकी मुलाक़ात हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्री राइट से हो सकी। जब उन्होंने जाना कि उपयुक्त प्रमाण-पत्र के अभाव में स्वामीजी को धर्म महासभा में प्रवेश नहीं मिल पाया तो उन्होंने कहा : 'आपसे प्रमाण-पत्र के विषय में पूछना वैसा ही है मानो सूर्य से उसके प्रकाशित होने के अधिकार के विषय में पूछना।' उन्होंने स्वयं ही धर्म महासभा के अधिकारी को एक पत्र लिखा जिसमें स्वामीजी का परिचय यह कहकर दिया गया था कि वे हमारे सभी अध्यापकों को सम्मिलित करने से जो होगा, ये उन सबसे भी विद्वान् हैं।'

बोस्टन में तीन सप्ताह व्यतीत करने के उपरान्त, स्वामीजी पुन: शिकागो की ओर रवाना हुए। बोस्टन में अपने निवास के समय उन्होंने छोटी-छोटी सभाओं में कुल बारह वक्तृताएँ दी थीं और इस दौरान अमेरिकी मस्तिष्क से परिचित हुए थे। इसीने मानो आनेवाले दिनों के लिए उन्हें तैयार किया था।

शिकागो में पुन:

स्वामीजी ९ सितम्बर, १८९३ को पुन: दूसरी बार पहुँचे। रात हो आई थी तथा स्वामीजी को यह जानकर और भी निराशा हुई कि जहाँ उन्हें जाना था, उसका पता वे गुमा चुके हैं। वह ठण्डी रात उन्होंने रेलगाड़ी के एक खाली डिब्बे में ही बिताई। शायद उनके पास रुपये-पैसे भी खत्म हो चुके थे क्योंकि प्राप्त घटनाओं के अवलोकन से यह विदित होता है कि सुबह अपनी क्षुधा-निवारण हेतु वे भिक्षा माँगने को भी उद्यत हुए थे और उन्हें निराश ही होना पड़ा था। जब तक उन्होंने जाना कि अमेरिका में भिक्षा नहीं माँगी जाती, वे थककर इतने क्लान्त हो गए थे कि अब चलना भी असम्भव हो रहा था। इसलिए भगवान के हाथों अपने को समर्पित कर वे फुटपाथ पर ही बैठ गए। सम्भवत:, ईश्वर को भी इसी क्षण का इन्तज़ार था। लगभग उसी वक़्त, सड़क के उस ओर के एक विशाल भवन का दरवाजा खुला और वहाँ से उत्तम वस्त्रों से सुसज्जित एक सम्भ्रान्त महिला बाहर निकल आई। उन्होंने स्वामीजी से पूछा कि क्या वे धर्म महासभा के प्रतिनिधि हैं? सत्य जानकर उन महिला स्वामीजी को अपने घर ले गईं और उनका खूब सत्कार किया। उन्होंने स्वयं स्वामीजी को धर्म महासभा के दफ्तर में पहुँचा दिया जहाँ उन्हें एक प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार कर लिया गया। ये महिला थीं—श्रीमती जॉर्ज डब्ल्यू. हेल।

धर्म महासभा के सम्बन्ध में

१८९३ में शिकागो की विश्व-धर्म महासभा निश्चय ही विश्व के इतिहास की एक महत्तम घटना सिद्ध होनेवाली थी। यद्यपि यह धर्म महासभा विश्व की कोलम्बीयन प्रदर्शनी का एक अंश ही थी जो कोलम्बस द्वारा अमेरिका की खोज के ४००वीं वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में मनाई जा रही थी, तथापि इस धर्म महासभा ने अन्यान्य सभी कार्यक्रमों

में सारे विश्व का विशेष ध्यानाकर्षण किया था। विश्व के सभी धर्मों को एक साथ एकत्र कर चर्चा करवाने का यह सर्वप्रथम प्रयास था। विश्व के संस्थाबद्ध सभी धार्मिक संघों के प्रतिनिधिगण इसमें भाग लेने के लिए आनेवाले थे। इस धर्म महासभा के लिए शिकागो के एक नव-निर्मित भव्य भवन को चुना गया था जिसका नाम 'आर्ट इन्स्टीट्यूट' था। सभा के प्रधान सत्र कोलम्बस हाल में होनेवाले थे जिसकी क्षमता चार हजार लोगों की थी। वैज्ञानिक एवं सहायक सत्र 'हाल ऑफ वाशिंगटन' और अन्य छोटे 'हालों' में रखे जानेवाले थे।

इस धर्म महासभा के लिए प्रस्तावित विभिन्न उद्देश्यों में, मुख्य यह था—विश्व के विभिन्न धर्मों में निहित सत्य को जानने हेतु सामान्य भूमि का पता लगाना तथा यह खोजने का प्रयास करना कि प्रत्येक धर्म ने विश्व के अन्यान्य धर्मों को समृद्ध करने के लिए क्या प्रयास किया है अथवा करनेवाले हैं। दरअसल, ऐसी भावनाएँ तो हर काल में ही समीचीन होती हैं, केवल धर्म महासभा कोई अपवाद न थी। परन्तु आश्चर्य यह था कि ईसाई सम्प्रदाय की प्रतिक्रिया इस भावना के अनुकूल न थीं। बहुतों के मत में, यह धर्म महासभा तो ईसा मसीह का अनादर कर रही थी क्योंकि इसमें ईसा मसीह के धर्म की तुलना अन्य धर्मों से जो की गई थी। सेण्टरबरी के आर्च बिशप ने तो यह दर्शाने में अपने शब्दों की कोई कटौती ही नहीं की कि वे इस धर्म महासभा में भाग ही नहीं लेना चाहते क्योंकि यह धर्मसभा तो 'ईसा मसीह के प्रति धर्मद्रोह' है। उन्होंने यह बात हाँग-काँग के एक मन्त्री को लिख भी दी।

यद्यपि इस सभा के व्यवस्थापक इतने संकीर्ण विचारधारा वाले नहीं थे, तथापि उनके मस्तिष्कों में भी ईसाई धर्म-प्रचार की भावना बलवती थी ही। धर्म महासभा के प्रधान व्यवस्थापक डॉ. बैरोज़ के एक पत्र से यह बात सिद्ध हो जाती है जो उन्होंने धर्म महासभा की

आलोचना के जवाब देने में व्यक्त की थी। उन्होंने लिखा था : 'हम यह विश्वास करते हैं कि ईसाई धर्म अन्य सभी धर्मों के पैर उखाड़ देगा, क्योंकि उसमें वह सत्य है जो अन्य सभी धर्मों में भी पाए जाते हैं और इसके अलावा एक मुक्तिदाता ईश्वर (ईसा मसीह) भी है। यद्यपि प्रकाश का अन्धकार के साथ कोई मित्रता नहीं है, तथापि झुटपुटे से भी उसका सम्बन्ध तो रहता है ... जिनके पास 'क्रॉस' का पूर्ण प्रकाश उपलब्ध है, उन्हें अन्य धर्मों के प्रति भाईचारे की भावना रखनी चाहिए जो मध्यम प्रकाश में भटकते हैं।' ईसाई पौरोहिती केवल इतने हद तक ही उदारचेता हो सकती थी। स्वामीजी ने व्यवस्थापकों की इस भावना को नज़रअन्दाज़ नहीं किया तथा बाद में उन्होंने लिखा था, 'धर्म महासभा का आयोजन केवल ईसाई धर्म का वर्चस्व सिद्ध करने के उद्देश्य से ही हुआ था।'

विश्व-धर्म महासभा :
स्वागत-सत्र में स्वामीजी का भाषण

उपर्युक्त प्रार्थना के साथ ११ सितम्बर की सुबह धर्मसभा शुरू हुई। विशाल जनसमुदाय, समारोह की भव्यता ने स्वामीजी को स्तब्ध कर दिया और वे अपने आपको विकल भी अनुभव करने लगे। बाद में उन्होंने स्वयं ही लिखा था : 'मैं इतना घबरा गया था कि सुबह के सत्र में बोलने का साहस ही जुटा न पाया।' दोपहर को वे तब बोले जब चार वक्ता अपने विचार व्यक्त कर चुके थे। श्रोताओं का अभिवादन उन्होंने 'बहनो और भाइयो' कहकर किया, और पूरा श्रोतावर्ग तत्काल तालियों की गड़गड़ाहट में मग्न हो गया। श्रोताओं को इस बात ने अधिक प्रभावित नहीं किया था कि उनकी वेशभूषा अनोखी थी या उन्होंने कुछ अस्वाभाविक कह दिया था, बल्कि स्वामीजी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उस समय उस जनसमुदाय से एकत्व का अनुभव कर रहा था और उन चन्द शब्दों में तो उनकी उस तीव्र अनुभूति को व्यक्त करने का एक शतांश

ही बाहर आया था जिसके कारण श्रोतागण मुग्ध हो गए। सच्चे अर्थों में उनकी विजय उनके भाषण देने के पहले ही हो गयी थी।

जब श्रोतागण कुछ शान्त हुए, तो उन्होंने अपना संक्षिप्त भाषण दिया, जो उनके गुरुदेव के सन्देश की ही प्रतिध्वनि मात्र थी—'जितने मत उतने पथ।'

'संसार के प्राचीन महर्षियों के नाम पर मैं आपको धन्यवाद देता हूँ तथा सब धर्मों की मातास्वरूप हिन्दूधर्म एवं भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के लाखों-करोड़ों हिन्दुओं की ओर से भी धन्यवाद प्रकट करता हूँ। ...

मुझको ऐसे धर्मावलम्बी होने का गौरव है, जिसने संसार को 'सहिष्णुता' तथा 'सब धर्मों को मान्यता प्रदान' करने की शिक्षा दी है। हम लोग सब धर्मों के प्रति केवल सहिष्णुता में ही विश्वास नहीं करते, वरन् समस्त धर्मों को सच्चा मानकर ग्रहण करते हैं। मुझे एक ऐसे देश का व्यक्ति होने का अभिमान है, जिसने इस पृथ्वी की समस्त पीड़ित और शरणागत जातियों तथा विभिन्न धर्मों के बहिष्कृत मतावलम्बियों को आश्रय दिया है। ...

'साम्प्रदायिकता, संकीर्णता और इनसे उत्पन्न भयंकर धर्म-विषयक उन्मत्तता इस सुन्दर पृथ्वी पर बहुत समय तक राज्य कर चुके हैं। इनके घोर अत्याचार से पृथ्वी भर गयी, इन्होंने अनेक बार मानव-रक्त से धरणी को सींचा, सभ्यता नष्ट कर डाली तथा समस्य जातियों को हताश कर डाला। यदि यह सब न होता, तो मानव-समाज आज की अवस्था से कहीं अधिक उन्नत हो गया होता। पर अब उनका भी समय आ गया है, और मैं पूर्ण आशा करता हूँ कि जो घण्टे आज सुबह इस सभा के सम्मान के लिए बजाये गये हैं, वे समस्त कट्टरताओं, तलवार या लेखनी के बल पर किये जानेवाले समस्त अत्याचारों तथा एक ही लक्ष्य की ओर होनेवाले मानवों की पारस्परिक कटुताओं के लिए मृत्यु-नाद सिद्ध होंगे।'

भाषण पुनः एक नए अभिवादन के साथ समाप्त हुआ। पूरे दिनभर श्रोताओं ने वक्ताओं के मुख से केवल स्वयं के धर्म के गुणानुवाद को ही सुना था। अन्ततः जब स्वामीजी बोले, तो उन्होंने तुरन्त पहचान लिया और अपने हृदयों में इसकी अनुभूति भी की कि इन्हीं सार्वभौमिक शब्दों का मानो वे इन्तज़ार कर रहे थे जो नीले आकाश की तरह व्यापक थे। श्रोताओं की प्रतिक्रिया भी इसी वजह से तत्काल ही वहाँ दृष्टिगोचर हुई।

वर्षों पश्चात् रामकृष्ण मिशन के साधु (स्वामी निखिलानन्द) की मुलाक़ात एक यहूदी विद्वान् से हुई थी जो उस धर्म महासभा के प्रथम दिन वहाँ उपस्थित थे। इन साधु से उस यहूदी विद्वान् ने कहा था कि उस दिन स्वामी विवेकानन्द के भाषण को सुनने के पश्चात् उन्हें अपने स्वयं के यहूदी धर्म में पहली बार विश्वास हुआ था कि वह भी सत्य है। उन्हें लगा कि स्वामीजी केवल अपने ही धर्म के विषय में नहीं बोल रहे हैं, अपितु जगत् के समस्त धर्मों के विषय में ही बोल रहे हैं। दरअसल, जो उन्होंने कहा वे मात्र केवल शब्दावली नहीं थी। उन्होंने उन सत्यों का साक्षात्कार किया जिसे उन्होंने अपने भाषणों में व्यक्त किया था। यही कारण था कि उनके शब्दों ने श्रोताओं पर अभूतपूर्व प्रभाव डाला था।

उनके भाषणों का प्रभाव विद्युत की भाँति था। रातों-रात उनकी ख्याति चहुँ ओर फैल गई। और इसके बाद से वे धर्म महासभा के केन्द्रबिन्दु बन गये। वे यदि केवल मंच पर से गुजर भी जाते तो तालियों से उनका स्वागत किया जाता। इस सत्य को जानकर, व्यवस्थापक उनके भाषणों को सबसे अन्त में रखा करते थे। सबसे उत्तम को सबसे अन्त में। श्रोतागण भी धैर्यपूर्वक अन्य वक्ताओं के उबाऊ लम्बे भाषणों को केवल इसीलिए सुना करते कि अन्त में वे स्वामी विवेकानन्द का संक्षिप्त भाषण सुनेंगे। एक वर्ष पश्चात्, एक सम्भ्रान्त भारतीय ने स्वामीजी के इस प्रथम भाषण के सम्बन्ध में ठीक ही कहा था : 'स्वामी विवेकानन्द के समान किसी को भी अचानक ऐसी सफलता कभी न

मिली होगी। वक्तृताओं की उपलब्धियों को पूरे इतिहास में ऐसी अभूतपूर्व सफलता आज तक किसी को भी नहीं मिली।'

एक महिला ने, जो धर्म महासभा के स्वागत समारोह के प्रथम दिन मौजूद थीं—अपने उस दिन के स्वामीजी के भाषण के अनुभव को इन शब्दों में व्यक्त किया था : 'जब वह नवयुवक उठा और उसने कहा, 'अमेरिकावासी बहनो और भाइयो', तो सात हजार (?) लोग इसलिए सम्मान में उठ खड़े हुए जिसके विषय में वे सर्वथा अनजान थे। जब वह समाप्त हुआ तब मैंने देखा, अनेकों युवतियाँ बेंचों पर चलते हुए उसके पास जाने हेतु व्यग्र हैं, तथा मैंने अपने-आप से कहा, 'अच्छा, मेरे बच्चे, यदि इस आक्रमण को तुम झेल गये तो तुम सचमुच भगवान हो।' इसके बाद, ऐसे आक्रमण तो उनके जीवन का भाग बन गए थे तथा स्वामीजी शान्त भाव से इन सबके पीछे ईश्वर का ही हाथ देखा करते थे।

'हिन्दूधर्म पर निबन्ध' तथा अन्य भाषण

पूर्ण सत्र एवं वैज्ञानिक सत्रों के अतिरिक्त स्वामीजी को एक दर्जन बार बोलना पड़ा था। इनमें से केवल छः को ही विवेकानन्द साहित्य में छापा गया है। श्री बैरोज़ की पुस्तक, 'द वर्ल्डस् पार्लियामेण्ट ऑफ रिलिजियन्स' में इन भाषणों के अतिरिक्त चार अन्य भाषणों का भी उल्लेख शीर्षक और तारीख के साथ आता है। महत्वपूर्ण यह है कि उनमें से एक भाषण 'ज़ेन बौद्धधर्म' पर था। अतः हम देखते हैं कि यद्यपि वे हिन्दूधर्म के प्रतिनिधि थे, तथापि उन्होंने स्वयं को केवल उसीमें बाँध नहीं रखा। उनका मुख्य उद्देश्य सभी धर्मों की सार्वभौमिकता में निहित था, जिसे उन्होंने इस धर्म महासभा समाप्त होने के कई दिनों बाद इन शब्दों में व्यक्त किया था : 'संसार के सभी धर्म केवल उसी धर्म की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं जो उस एकत्व में समाहित हो जाते हैं।'

अपने दूसरे संक्षिप्त भाषण में उन्होंने कुँए में रहनेवाले एक मेंढक की कहानी कही थी जो समझता था कि उसके कुँए के बाहर और कोई संसार विद्यमान ही नहीं है। अपनी अज्ञानावस्था में वह समुद्र को भी अपने कुँए से छोटा समझता था। स्वामीजी ने कहा था कि अपने इन्हीं वैचारिक संकीर्ण दृष्टिकोणों की वजह से, जो अपने ही दायरे में बद्ध रहता है, आज लोगों में इतना वैमनस्य विद्यमान है। उन्होंने 'इन संकीर्णताओं के दायरों को तोड़ने' हेतु धर्मसभा के प्रयासों की भूरि-भूरि प्रंशसा की।

१९ सितम्बर को, अपने तीसरे भाषण में उन्होंने हिन्दूधर्म पर अपना भाषण पढ़ा। इसे ही उनका सबसे मुख्य भाषण समझना चाहिए क्योंकि आधिकारिक तौर पर वे हिन्दूधर्म का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। और फिर, उनका हिन्दूधर्म कोई साम्प्रदायिक धर्म तो था नहीं। जैसा भगिनी निवेदिता ने दर्शाया है : 'भारत की धार्मिक चेतना ही उनके माध्यम से बोली, वह तो उस देश के समस्त लोगों का ऐसा सन्देश था, जो उसके पूरे इतिहास का दिग्दर्शन था।' उन्होंने हिन्दूधर्म में विद्यमान अनेकों सम्प्रदायों में से किसी सम्प्रदाय-विशेष के विषय में नहीं कहा और न ही किसी विशिष्ट देवी या देवता के विषय में ही कहा। यह वेदान्त पर उनका भाषण था जिसकी भाषा से पश्चिम का श्रोता अनभिज्ञ था। संक्षेप में, उन्होंने साधारणतया हिन्दूधर्म के दर्शन और मनोविज्ञान का ही साररूप में निदर्शन कराया था। उन्होंने कहा कि हिन्दूधर्म का लक्ष्य मुक्ति की प्राप्ति करना ही है। और जब यह लक्ष्य प्राप्त हो जाता है, तो मनुष्य अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है जो शाश्वत रूप से शुद्ध और मुक्त ही है। वैदिक ऋषि की भाँति उन्होंने श्रोताओं को 'अमृत के अधिकारी' कहकर सम्बोधित किया और ईश्वर के दूत के समान यह घोषणा की : 'हिन्दू आपको पापी कभी स्वीकार ही नहीं करता। आप तो ईश्वर के बच्चे हैं, उस अमृत के सहभागी; जो

सदा ही पवित्र एवं पूर्ण हैं। ओ ! पृथ्वी की दिव्य आत्माओ ! तुम भला पापी ! आपको पापी कहकर पुकारना ही पाप है; मानव स्वभाव पर यह एक घोर लांछन है।'

उन्होंने हिन्दूधर्म में निहित बहुदेववाद तथा मूर्तिपूजा के सिद्धान्तों को उनके सच्चे अर्थों में समझाया। देवों के विभिन्न विग्रह उसी एक परमात्मा के भिन्न-भिन्न प्रतीक हैं, उसी प्रकार जैसे 'क्रॉस' को ईसाई धर्म में पवित्र प्रतीक माना जाता है। उन्होंने कहा, "तात्पर्य यह है कि अपनी मानसिक प्रकृति के नियमानुसार हमें अपनी अनन्तत्व की भावना को नील आकाश या अपार समुद्र की कल्पना से सम्बद्ध करना पड़ता है; उसी तरह हम पवित्रता के भाव को अपने स्वभावानुसार गिरजाघर, मस्जिद या क्रॉस से जोड़ लेते हैं। हिन्दू लोग पवित्रता, नित्यत्व, सर्वव्यापित्व आदि-आदि भावों का सम्बन्ध विभिन्न देवमूर्तियों से जोड़ते अवश्य हैं ... मनुष्य को ईश्वर का साक्षात्कार करके स्वयं ईश्वर बनना है। मूर्तियाँ, मन्दिर, गिरिजाघर या शास्त्र-ग्रन्थ तो धर्मजीवन की बाल्यावस्था में केवल आधार या सहायक मात्र हैं।' वे तो सापेक्ष होते हुए भी उस एक परम तत्त्व को अभिव्यक्त करने के साधन मात्र हैं। विभिन्न प्रतीक जैसे 'मूर्तियाँ, क्रॉस या चाँद तो केवल आध्यात्मिक उन्नति के सहायक रूप हैं। वे मानो बहुत-सी खूटियाँ हैं, जिनमें धार्मिक भावनाएँ अटकायी जाती हैं।' हिन्दुओं के अनुसार, मनुष्य का सच्चा स्वरूप दिव्य है और इस दिव्यता को अभिव्यक्त करना ही विभिन्न धर्मों का एकमात्र उद्देश्य है। हिन्दूधर्म प्रत्येक धर्म को 'जड़भावापन्न मानव को ब्रह्म में परिणत' करने की एक प्रक्रिया के रूप में मानता है। अतः, एक हिन्दू की दृष्टि में सभी धर्म सत्य हैं क्योंकि वे एक ही उद्देश्य की ओर अग्रसर हो रहे हैं। ऊपरी तौर पर, जो भी विरोध उत्पन्न होते देखे जाते हैं, वे भी 'विभिन्न अवस्थापन्न भिन्न-भिन्न प्रकृतिवाले मनुष्यों को उपयोगी होने के लिए हैं।'

अन्त में, उन्होंने एक सार्वभौमिक धर्म के आदर्श को बताया जिसे कोई लौकिक, स्थानिक या साम्प्रदायिक सीमा बाँध न सकेगी। अपितु सभी मानव मस्तिष्क को एक विशाल संश्लेषण में पिरोए रखेगी :

'... पर यदि कभी कोई सार्वभौमिक धर्म हो सकता है, तो वह ऐसा ही होगा जो देश या काल से मर्यादित न हो; जो उस अनन्त भगवान के समान ही अनन्त हो, जिस भगवान के सम्बन्ध में वह उपदेश देता है; जिसकी ज्योति श्रीकृष्ण के भक्तों पर और ईसा के प्रेमियों पर, सन्तों पर और पापियों पर समान रूप से प्रकाशित होती हो; जो न तो ब्राह्मणों का हो, न बौद्धों का, न ईसाइयों का और न मुसलमानों का, वरन् इन सभी धर्मों का समष्टिस्वरूप होते हुए भी जिसमें उन्नति का अनन्त पथ खुला रहे; जो इतना व्यापक हो कि अपनी असंख्य प्रसारित बाहुओं द्वारा सृष्टि के प्रत्येक मनुष्य का आलिंगन करे और उसे अपने हृदय में स्थान दे, चाहे वह मनुष्य हिंसक पशु से किंचित् ही उठा हुआ, अति नीच, बर्बर और जंगली ही क्यों न हो, अथवा अपने मस्तिष्क और हृदय के सद्गुणों के कारण मानव-समाज से इतना ऊँचा क्यों न उठ गया हो कि लोग उसकी मानवी प्रकृति में शंका करते हुए देवता के समान उसकी पूजा करते हों। वह विश्वास ऐसा होगा कि उसमें अविश्वासियों पर अत्याचार करने या उनके प्रति सहिष्णुता प्रकट करने की नीति नहीं रहेगी; वह धर्म प्रत्येक स्त्री और पुरुष के ईश्वरीय स्वरूप को स्वीकार करेगा और उसका सम्पूर्ण बल मनुष्य-मात्र को अपनी सच्ची, ईश्वरीय प्रकृति का साक्षात्कार करने के लिए सहायता देने में ही केन्द्रित रहेगा।'

स्वामीजी ने कहा : 'आप ऐसा सार्वभौमिक उदार धर्म सामने रखिये, और सारे राष्ट्र आपके अनुयायी बन जाएँगे। सम्राट् अशोक की धर्मसभा केवल बौद्ध धर्मियों की ही थी। अकबर बादशाह की धर्म-परिषद् अधिक उपयुक्त होती हुई भी, केवल दरबार की शोभा की ही

वस्तु थी। पर 'प्रत्येक धर्म में ईश्वर है' इस बात की घोषणा दुनिया के सभी प्रदेशों में करने का भार नियति ने अमेरिका के लिए ही रख छोड़ा था ... अतएव तू ही सभ्य जातियों में अग्रणी होकर शान्ति-पताका फहराने की अधिकारिणी है।'

यह भाषण इसीलिए भी विशेष था कि वह सभी मतावलम्बियों और धर्मों को स्वीकार करता था। इस भाषण में स्वामीजी ने विभिन्न सम्प्रदायों के धार्मिक मतों के विरुद्ध भी कहा, परन्तु किसी पर भी आक्रमण करने का रुख नहीं अपनाया। उनकी सार्वभौमिक धर्म की परिभाषा ने तो साम्प्रदायिक मतों के मूल पर प्रहार किया था। धर्म महासभा उनके द्वारा मानो पुनरुज्जीवित हो उठी। उन्होंने सबको यह दर्शा दिया कि हर किसी को अन्य धर्मों का समान रूप से आदर करना चाहिए जबकि, वे स्वयं के धार्मिक मतों के प्रति आस्थावान अवश्य ही रहें।

२० सितम्बर को अपने संक्षिप्त भाषण में, स्वामीजी ने कहा कि भारत में धर्म का बिल्कुल भी अभाव नहीं है क्योंकि 'धर्म उनके यहाँ पर्याप्त है।' उन्होंने कहा कि भारत में दरिद्रता है और वे अमेरिका में अपने गरीब देशवासियों से सहायता माँगने ही यहाँ आए हैं। दर्शकों को अब यह समझा कि यह 'अलौकिक वक्ता' एक महान् देशभक्त भी है।

उनका पाँचवा भाषण था—'बौद्धधर्म हिन्दूधर्म के सत्यों की ही परिणति है।' उन्होंने कहा कि बौद्धधर्म हिन्दूधर्म का युक्तिसंगत विकास ही है। 'हिन्दूधर्म बौद्धधर्म के बिना नहीं रह सकता और न बौद्धधर्म हिन्दूधर्म के बिना ही।' उन्होंने भारत के लिए ब्राह्मणों के मस्तिष्क के साथ बुद्धदेव के हृदय को मिलाने पर जोर दिया।

२७ सितम्बर को वे अन्तिम सत्र में अपने उत्कृष्टतम भाषण देने के लिए एक बार पुनः उठे। उन्होंने सार्वभौमिकता पर बल देते हुए कहा:

'धर्म-समन्वय की सर्वसामान्य भित्ति के विषय में बहुत-कुछ कहा

जा चुका है। इस समय मैं इस सम्बन्ध में अपना मत आपके समक्ष नहीं रखूँगा। पर यह कह दूँ कि यदि कोई महाशय यह आशा करें कि यह समन्वय किसी एक धर्म की विजय और बाकी धर्मों के विनाश से साधित होगा, तो उनसे मेरा कहना है कि "भाई ! तुम्हारी यह आशा असम्भव है।" क्या मैं यह चाहता हूँ कि ईसाई लोग हिन्दू या बौद्ध हो जाएँ?"—कदापि नहीं, ईश्वर ऐसा न करे ...

ईसाई को हिन्दू या बौद्ध नहीं हो जाना चाहिए, और न हिन्दू अथवा बौद्ध को ईसाई ही। पर हाँ, प्रत्येक को चाहिए कि वह दूसरों के सार-भाग को आत्मसात् करके पुष्टि-लाभ करे और अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए अपनी निजी प्रकृति के अनुसार वृद्धि को प्राप्त हो।

इस सवधर्मपरिषद् ने जगत् के समक्ष यदि कुछ प्रदर्शित किया है, तो वह यह है—उसने यह सिद्ध कर दिखाया है कि शुद्धता, पवित्रता और दयाशीलता किसी सम्प्रदायविशेष की सम्पत्ति नहीं हैं एवं प्रत्येक धर्म ने श्रेष्ठ व अतिशय उन्नतचरित्र स्त्री-पुरुषों को जन्म दिया है।

अब इन प्रत्यक्ष प्रमाणों के बावजूद भी यदि कोई ऐसा स्वप्न देखे कि अन्यान्य सारे धर्म नष्ट हो जाएँगे और केवल उसका धर्म ही अपनी सर्वश्रेष्ठता के कारण जीवित रहेगा, तो उसपर मैं अपने हृदय के अन्तस्तल से दया करता हूँ और उसे स्पष्ट बतलाए देता हूँ कि वह दिन दूर नहीं है, जब उस-जैसे लोगों के अड़ंगों बावजूद भी प्रत्येक धर्म की पताका पर यह स्वर्णाक्षरों में लिखा रहेगा—"सहायता, न कि विरोध"; "पर-भाव-ग्रहण, न कि पर-भाव-विनाश"; "समन्वय और शान्ति, न कि मतभेद और कलह" !

इस प्रकार विश्व-धर्म महासभा का समापन हुआ। परन्तु अमेरिकावासी इस अनोखी घटना को भूल न सके। वे इसी की चर्चा करते रहे, विशेषकर इस धर्मसभा के 'नायक' स्वामी विवेकानन्द के बारे में । अब वे एक अज्ञात संन्यासी न रह सके। शिकागो के रास्तों पर उनके चित्र

लटके पाए जाते थे, जिनपर यह लिखा होता : 'भारत के हिन्दू संन्यासी।' वे जहाँ भी जाते, सैकड़ों लोग उनका अनुसरण करते। उनके मात्र पास में रहने, या हाथ मिलाने को भी लोग अपना सौभाग्य समझते थे । अमेरिकन अखबार और विद्वन्मण्डली ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा के पुल बाँध दिये। कुछों ने उन्हें बुद्ध कहा, कइयों ने ईसा मसीह और अन्यों ने उन्हें एक 'योद्धा-संन्यासी' कहकर वर्णित किया जो अपने देश और अपने मत में निहित सत्य के प्रचार हेतु सबके समक्ष डटे रहे। 'हम उनके देश में अपने मिशनरियों को भेजते हैं। बल्कि, अच्छा यह होगा कि वे लोग हमारे यहाँ मिशनरियों को भेजें'— एक व्यक्ति ने उनका भाषण सुनने के बाद यह उद्‌गार व्यक्त किये और अनेकों के विचार भी यही थे जिन्होंने स्वामीजी को सुना था।

धर्मसभा की साधारण कमिटी के अध्यक्ष, डॉ. बैरोज़ ने कहा था, "स्वामी विवेकानन्द ने श्रोताओं पर अद्‌भुत प्रभाव डाला था", तथा वैज्ञानिक सत्र के अध्यक्ष श्री मार्विन-मेरी स्नेल ने उत्साह भरे शब्दों में यह कहा था, "देखा जाए तो हिन्दूधर्म के एक विशिष्ट एवं सबसे महत्वपूर्ण प्रतिनिधि स्वामी विवेकानन्द ही निस्सन्दिग्ध रूप से इस धर्मसभा के सबसे प्रभावशाली व्यक्ति थे ... उन्हें अन्य ईसाई और प्राच्य वक्ताओं से कहीं अधिक श्रोताओं ने बड़े उत्साहपूर्वक ग्रहण किया था। वे जहाँ भी जाते, लोग उन्हें घेरे रहते थे और उनके प्रत्येक शब्द को ध्यानपूर्वक सुना करते थे । पक्के रूढ़िवादी ईसाई भी उनके विषय में कहते, "वे मनुष्यों में राजा हैं।"

धर्मसभा के बाद स्वामीजी को भौतिक वस्तुओं का कोई अभाव ही न रहा। अमेरिकन समाज के सबसे धनाढ्य और सम्भ्रान्त लोग स्वामीजी को अपना अतिथि बनाने में बड़ा सौभाग्य समझते थे। परन्तु स्वामीजी अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधा से कभी सन्तोष नहीं करते थे। अपने सत्कारक के घर की ऐश्वर्यपूर्ण सुख-सुविधा के मध्य स्वामीजी स्वदेश

के गरीबों की विरोधाभासपूर्ण दुरवस्था का स्मरण करते थे। 'मेरे देशवासी कब थोड़े समृद्धिशाली होंगे'—सदैव ही उनके भीतर यह पुकार उठा करती। कभी-कभी इन विचारों में वे इतने मग्न हो जाते कि कई रात अनिद्रा में ही बिताते। वे उद्विग्न हो बिस्तर छोड़कर फर्श पर लोट जाते और रो-रोकर भगवान से अपने देशवासियों के दु:ख-दर्द को दूर करने हेतु प्रार्थना करते।

दरअसल, उनकी वक्तृताओं ने हजारों को आकर्षित किया था, परन्तु उनके उदात्त मानवोचित स्वभाव ने ही उनके करीब आनेवालों को अधिक आकर्षित किया था। उनके एक शिष्य ने परवर्ती काल में लिखा था : 'वे एक ऐसे व्यक्ति हैं जो सभी परिस्थितियों में चमकेंगे, क्योंकि उनकी उपस्थिति ही एक आशीर्वाद होती। उनकी वाद-विवाद करने की प्रतिभा, चुम्बीकीय वक्तृता और इन सबसे ऊपर उनकी अलौलिक सरलता और चारित्रिक पवित्रता ये सब उनके अद्वितीय गुण थे ... विवेकानन्द को जानने का अर्थ ही उनसे प्यार करना था और उन्हें अच्छी तरह जानना ही उनपर श्रद्धा करना था।'

इन अभिनन्दनों और प्रशंसा के मध्य भी स्वामीजी ने कभी इनका श्रेय स्वयं को न दिया। इन सभी उपलब्धियों में, उन्होंने सदैव ईश्वर का ही हाथ देखा। धर्मसभा के समाप्त होने के पश्चात् उन्होंने श्री राइट को लिखा था, "प्रिय बन्धुवर, उस धर्मसभा में सारे संसार के उत्कृष्ट वक्ताओं के बीच इतने विशाल जनसमुदाय के समक्ष खड़े होने में भी मुझे भय लग रहा था। परन्तु ईश्वर ने मुझे शक्ति प्रदान की और मैं प्रत्येक दिन ही मंच पर श्रोताओं के सामने सफलतापूर्वक बोल सका। यदि मैं सफल हुआ हूँ, तो उसी ने मुझे शक्ति दी थी ... उस ईश्वर की ही जय हो जिनकी दृष्टि में भारत का यह फ़क़ीर संन्यासी और इस शक्तिशाली राष्ट्र के प्रभुत्वपूर्ण व्यक्ति समान हैं।' इस प्रकार, वे तो वही संन्यासी थे, चाहे कष्टपूर्ण दिन रहे हों अथवा सफलता की ऊँचाई हो।

भारत में तथा पूरे विश्व में प्रभाव

श्री अरविन्द ने कहा था कि स्वामी विवेकानन्द की अमेरिका यात्रा 'यह स्पष्ट संकेत' था कि भारतमाता जाग रही है। श्री अरविन्द ने कहा था, 'वह केवल जाग ही नहीं गयी, परन्तु विजयी भी हुई।' भारतवर्ष केवल अपने ही लिये नहीं जीता, अपितु सारी मानवजाति को आध्यात्मिक ज्ञान से प्लावित करने का श्रेय भी उसे ही जाता है। भारत का यह पुनर्जागरण कैसे सम्भव हुआ? अमेरिका में स्वामीजी की सफलता तथा उनकी उपलब्धियों का समाचार जब भारत में पहुँचा, तो सारा देश खुशी से भावविह्वल हो उठा। क्या एक भारतीय भी इस तरह पाश्चात्य देश में सफलता अर्जित कर सकता है और वह भी इस अनुपात में! इस बात की कल्पना उन्होंने कभी स्वप्न में भी न की थी। उन्हें यह महसूस हुआ कि वे इतने निकृष्ट नहीं हैं जितना कि वे स्वयं को समझते हैं। देशवासियों में जो एक आत्म-सम्मान की भावना जागृत हुई, उसने चमत्कार प्रस्तुत किये। दरअसल, भारतीय इतिहास में यही एक परिवर्तन का मोड़ था। इसके बाद ही राष्ट्रीय चेतना जागृत हुई जिसके फलस्वरूप देश ने ब्रिटिश सरकार को देश से उखाड़ फेंका। गाँधीजी, श्री अरविन्द घोष, सुभाषचन्द्र बोस और समकालीन अनेक नेताओं ने स्वामी विवेकानन्द से ही प्रेरणा प्राप्त की थी। उन्होंने ही स्वामीजी के माध्यम से भारतवर्ष को उसके अच्छे और बुरे पक्षों के साथ आविष्कार किया था। उनके मस्तिष्क से एक नये भारत का निर्माण हुआ जो कि बृहत् रूप में स्वामीजी द्वारा कल्पित भारत का रूप था। इसमें कोई संशय ही नहीं कि बहुतों के द्वारा स्वामीजी को ही 'भारत के राष्ट्रीय जागरण के पिता' के रूप में स्वीकार किया जाता है।

परन्तु स्वामीजी जैसे भारत के थे उसी तरह वे विराट्रूप से सारे विश्व के भी थे। उन्होंने एक बार स्वयं ही उद्घोष भी किया था—'मेरे

पास पश्चिम के लिए एक सन्देश है, जैसे पूर्व के लिए बुद्ध के पास था।' संसार को उनका सबसे उत्कृष्ट सन्देश वेदान्त का सन्देश ही था। वेदान्त तो पहले से ही विदित था, परन्तु उस रूप में नहीं जैसा स्वामी विवेकानन्द ने प्रचारित किया। मनुष्य दिव्यात्मा है। वह 'पाप' कर सकता है, परन्तु उसका स्वरूप कभी-भी 'पापी' नहीं हो सकता। सत्य तो एक है, परन्तु उसे विभिन्न दृष्टियों से देखा जा सकता है। विश्व के विभिन्न धर्म उसी एक सत्य की अनेक अभिव्यक्तियाँ हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के धममतों की आवश्यकता है क्योंकि वे विभिन्न स्वभाववाले व्यक्तियों के लिए धर्मजीवन जीने के अवसर उपस्थित करते हैं। विभिन्न धर्मों के होने में कोई बुराई भी नहीं है। बुराई आती है साम्प्रदायिकता से जिसका नाश होना आवश्यक है। संक्षेप में, धर्मसभा में यही उनका सन्देश था।

पश्चिम के लोगों के लिए यह सब बड़ा ही नवीन सन्देश था जो धर्मान्धिपूर्ण घुटे हुए वातावरण में रहकर ऊब गए थे। उन्हें जीवन का यह नूतन सन्देश मिला था, जिसमें स्वयं जीकर अन्यों को जीने का अधिकार देने की बात थी—सारे विश्व को एक परिवार के रूप में स्वीकार करने की बात थी। उनके संकीर्ण 'कुँए' अब टूटने लगे। अब वे दूसरों के दृष्टिकोणों को स्वीकार करने लगे थे। इस बात को स्वीकार करते हुए श्री मार्विन-मेरी स्नेल ने कहा था : 'धर्मसभा की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी 'जो उसने ईसाई समाज को, विशेषकर अमेरिकन लोगों को यह सबसे बड़ी शिक्षा दी कि संसार में ईसाई धर्म से उत्कृष्ट धर्म भी मौज़ूद हैं जो आध्यात्मिक गहराई और तीव्रता में, अपने वैचारिक स्वातन्त्र्य में, और मानव-संवेदना में ईसाई धर्म से कहीं उदात्त हैं।' इसमें कोई संशय नहीं कि श्री स्नेल स्वामीजी की ओर ही इस शिक्षा के सन्दर्भ में इंगित कर रहे थे।

कुछ पाश्चात्य लोगों का यह मत है कि स्वामी विवेकानन्द ने अपना उत्कृष्टतम सन्देश पश्चिम में ही दिया। सबसे उत्कृष्ट इसीलिए कि वह

सार्वभौमिक सन्देश था। उनकी उपयुक्तता सारी मानवजाति के लिए थी जिसे किसी धर्म, राष्ट्रीयता और समय की कोई बाधा ही नहीं थी। अमेरिका से हाल ही में एक पुस्तक (The Gift Unopened : A new American Revolution by Ms. Eleanor Stark) छपी थी जिसमें कहा गया है कि अमेरिका को अपने भाषण का मंच बनाने से अमेरिका की कुछ निहित आवश्यकताएँ पूरी हुई हैं। वे आवश्यकताएँ क्या थीं? अमेरिका के लोगों को इस सत्य से आगाह कर देना कि जीवन को आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों पर गठित करना चाहिए। लेखिका ने इस पुस्तक में यह दर्शाया है कि अमेरिका के आविष्कारकों ने धार्मिक और नैतिक मूल्यों पर बहुत जोर दिया क्योंकि अपनी भौतिक समृद्धि के कारण उन्होंने इन मूल्यों को बिसरा दिया था। विधि ने स्वामी विवेकानन्द को इस देश में भेजा, उसकी खोयी हुई भूमि को दिला देने के लिए। 'क्रिस्टोफर कोलम्बस ने अमेरिका की भूमि का आविष्कार किया, परन्तु स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका की आत्मा का आविष्कार किया'—लेखिका ने ऐसे विचार रखे हैं। लेखिका के अनुसार स्वामी विवेकानन्द की सबसे बड़ी देन वेदान्त है, जो अमेरिकनों की अपूर्णता दूर कर देगा जिससे यह देश एक सम्पूर्ण देश बन जाएगा । परन्तु दुर्भाग्य है यह है कि वह 'Gift' (भेंट) अब भी 'Unopened' (अनखुली) ही रह गयी है।' वेदान्त की इतनी बड़ी सम्भावनाओं को अब तक खोजा नहीं गया। यदि इन तत्त्वों की खोज की जाए, तो 'अमेरिका में एक नई क्रान्ति' चली आएगी। ये विचार उन लेखिका ने प्रकट किये हैं।

स्वामीजी का यह विश्वास था कि वेदान्त केवल वनों में रहनेवाले चन्द साधुओं की धरोहर नहीं है। वेदान्त तो सबके लिए है। वेदान्त में वर्णित एकत्व के सत्य तथा दिव्यता को जीवन के सभी क्षेत्रों में व्यवहार में लाया जा सकता है। उन्होंने कहा था कि यही उनके पूरे जीवन का कार्य था कि 'सैद्धान्तिक वेदान्त' को 'रोजमर्रा के जीवन में

आनन्दपूर्वक जीया जाए।' इसीलिए धर्मसभा और उसके बाद भी स्वामीजी का यही सन्देश था जिससे वे यह दर्शा दें कि मानव का असली स्वरूप ही दिव्य या अलौकिक है और इसको आधार मानकर जीवन जीने की कला उन्होंने सिखायी। बाह्य रूप से मनुष्य एक-दूसरे से अवश्य ही भिन्न होता है। परन्तु अपने असली दिव्य स्वरूप में सदा ही एक तथा महान् होता है। चाहे वह व्यक्तिगत जीवन में हो या सामूहिक जीवन में, राष्ट्रीय स्तर पर हो या अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर, सबमें अनुस्यूत एकत्व के इसी तत्त्व को बिसरा देने तथा सतह पर भासते भेद को अत्यधिक महत्व देने से ही इतने विरोध और असमन्वय देखने में आते हैं।

परन्तु राजनैतिक, धार्मिक और साम्प्रदायिक दंगे जो आज के विश्व में एक महामारी की भाँति फैल रहे हैं; यही दर्शाते हैं कि हमने कहीं वह ईश्वरीय एकत्व की कड़ी खो दी है। इसीलिए, यह प्यारी पृथ्वी कलहों से फटी पड़ रही है और स्वामीजी की उपयुक्तता उनके सन्देश 'समन्वय और शान्ति' के साथ आज और भी अधिक समीचीन हो गयी है ।

कतिपय पुस्तकें

विवेकानन्द की जीवनी (रोमां रोलां)

स्वामी विवेकानन्द (संक्षिप्त जीवनी)

विवेकानन्द साहित्य (सेट १० खंड)

गीता तत्त्व चिन्तन (सेट २ खंड)

विवेकानन्द की बोध कथाएं

सिंह शावक हरि

THE RAMAKRISHNA MISSION INSTITUTE OF CULTURE

Order for books may be placed at
website : www.sriramakrishna.org
Email : rmicsale@gmail.com

ISBN 81-85843-42-2

सबके स्वामीजी

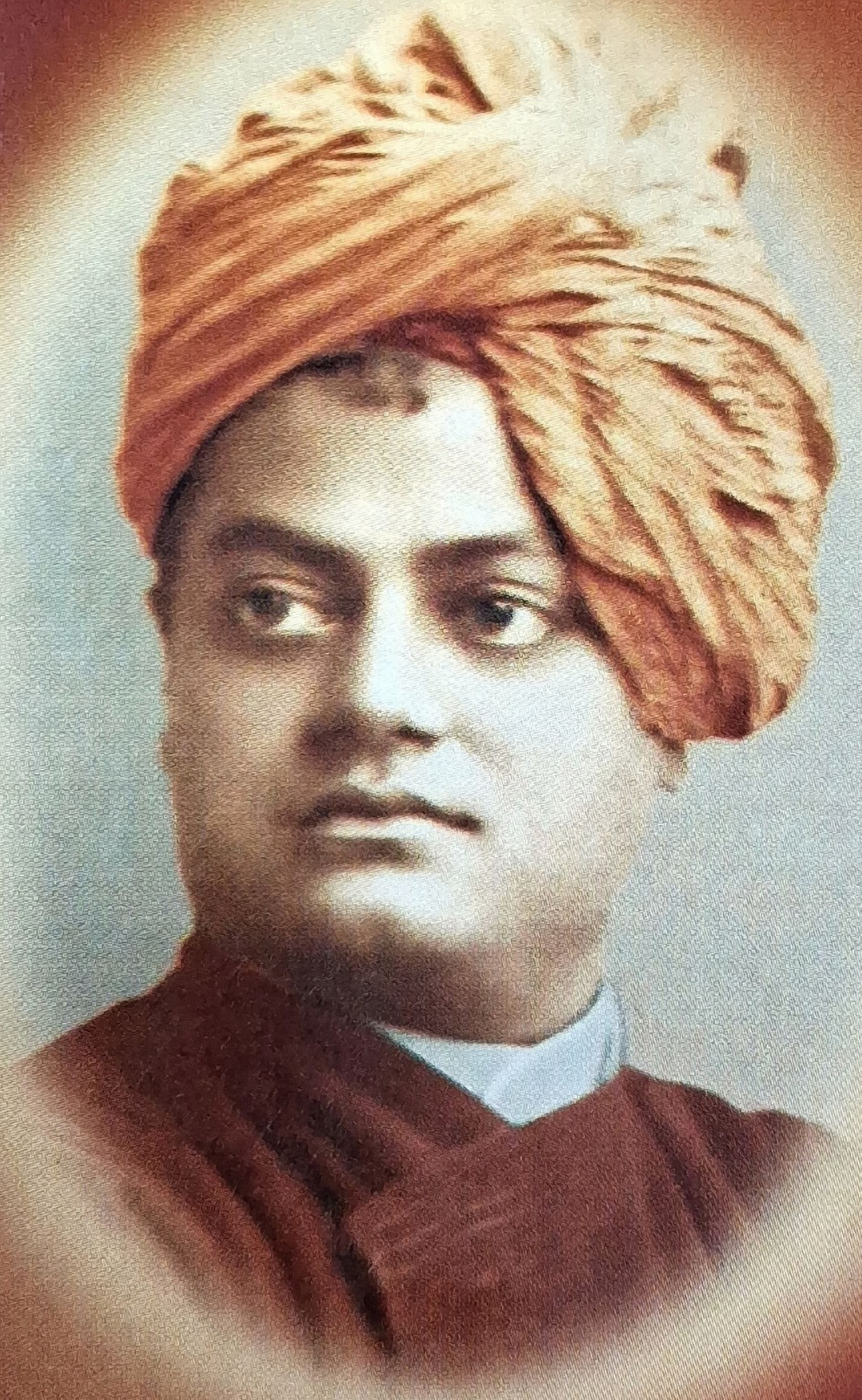

सबके स्वामीजी

(स्वामी विवेकानन्द की संक्षिप्त जीवनी,
प्रमुख घटनाएँ एवं वाणी संकलन)

रामकृष्ण मिशन इन्स्टीट्यूट ऑफ कल्चर
गोल पार्क : कलकत्ता - 700 029

Published by

Swami Suparnananda
Secretary
Ramakrishna Mission Institute of Culture
Kolkata-700 029, India

First Hindi Edition : 1991 : 20,000
Twenty-fourth print : June 2020 : 15,000
Total Print : 6,44,000

All rights reserved

ISBN 81-85843-42-2

Price : Rupees Fourteen only

Printed in India
at
Ramakrishna Mission Institute of Culture
Gol Park, Kolkata - 700 029
Website : www.sriramakrishna.org
E-mail : rmicsale@gmail.com

○ *A Value Orientation Publication*

Published with financial support from the Ministry of Culture, Government of India.

प्रकाशक का निवेदन

यह पुस्तिका बंगला भाषा में सर्वप्रथम 1988 ई. में स्वामी विवेकानन्द के 125वें जन्म-वर्ष के उपलक्ष्य में प्रकाशित हुई। बंगला में इसका नाम था 'सबार स्वामीजी'। प्रथम प्रकाशन के उपरान्त अब इस पुस्तिका की डेढ़ लाख से भी अधिक प्रतियाँ मुद्रित एवं प्रचारित हुई हैं। बंगला में इस पुस्तिका की जनप्रियता को देखते हुए अंग्रेजी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी इसके रूपान्तर की परिकल्पना की गई। हिन्दी संस्करण इसी की फलश्रुति है।

रामकृष्ण मिशन, विद्यापीठ पुरूलिया के अध्यापक श्री शक्तिपद मिश्र, एवं रामकृष्ण मिशन आश्रम, दिव्यायन कृषि विज्ञान केन्द्र, राँची के प्रशासनिक पदाधिकारी श्री सुधीन्द्र नाथ गांगुली ने इसका प्राथमिक अनुवाद एवं सम्पादन किया और डॉ. ओ.पी.शरण तथा स्वामी उरुक्रमानन्द ने इसका संशोधन किया। राँची आश्रम के सचिव स्वामी आत्मविदानन्द एवं स्वामी सोमदेवानन्द की ओर से पुस्तिका तैयार करने में महत्वपूर्ण सहयोग मिला है। इन सभी के प्रति हम आभारी हैं।

इस पुस्तिका में स्वामीजी की संक्षिप्त जीवनी, कुछ मुख्य घटनाएँ और कुछ सूक्तियों का समावेश हुआ है।

हमें विश्वास है कि यह हिन्दी संस्करण बंगला संस्करण के सदृश सभी सम्प्रदायों एवं आयु के लोगों के मन में शक्ति-संचार करेगा।

16 फरवरी 1991 — स्वामी लोकेश्वरानन्द